मामेकं शरणं व्रज

प्रवक्ता:
स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

संकलनकर्त्री:
श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

मामेकं शरणं व्रज

प्रवक्ता :

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज

संकलनकर्त्री :

श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

प्रकाशक :
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
विपुल, २८/१६ बी. जी. खेर मार्ग
बम्बई ४००००६
फोन : ८१३६७९७६

•

प्रथम संस्करण ३०००
मूल्य : ६.००, छ रुपये मात्र

•

संवत् २०४१ वि०
दीपावली, कार्तिककृष्ण अमावस्या
२४ अक्तूबर, १९८४ ई०

•

मुद्रक :
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन प्रेस
सीके. ३६/२० ढुण्ढिराज
वाराणसी—१

मामेकं शरणं व्रज

श्रीरामकुमार भुवालकाका पूरा परिवार ईश्वर-विश्वासी, सन्तोंके प्रति श्रद्धालु एवं सत्संगमें सुरुचि-सम्पन्न है। वे लोग प्रायः प्रतिवर्ष अपने यहाँ आध्यात्मिक प्रवचनका आयोजन करते हैं। पिछले वर्ष उनके वहाँ 'शरणागति' पर प्रवचन किया था। उसीको लिपिवद्ध करके प्रकाशित किया जा रहा है। टेप-रिकार्डके प्रवचनको लिखनेमें एकाग्रता तथा समय दोनोंकी अपेक्षा होती है। श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालानने वड़े परिश्रमसे इसे लिखा है। भुवालका-परिवारके सदस्योंने पिछले वर्षोंके समान वड़े उत्साह एवं प्रीतिके साथ इसे जनताके सम्मुख प्रस्तुत किया है। भगवत्-कृपासे इन सबकी श्रद्धा, रुचि और प्रवृत्ति सत्कर्म, सद्भाव एवं सद्विचारकी ओर अग्रसर होती रहे—यही शुभकामना है।

वृन्दावन
३०–८–'८४

—अखण्डानन्द सरस्वती
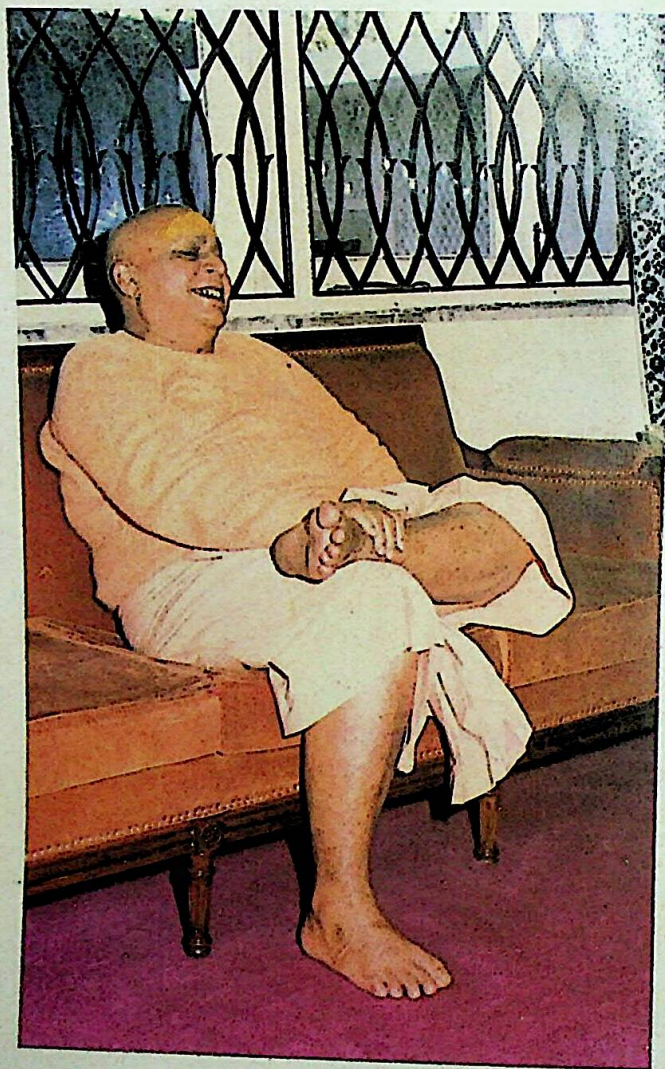
मामेकं शरणं व्रज

प्रवचन—१

मैंने एक कहानी सुनी थी। एक राजा था। उसके कई रानियाँ थीं। एक बार वह विदेश गया। वहाँसे उसने रानियोंके पास सन्देश भेजा कि जिसको जो वस्तु चाहिए, वह उस वस्तुका नाम लिखकर भेजे। सभी रानियोंने अपनी-अपनी पसन्दकी वस्तुका नाम लिखकर उसको भेजा। परन्तु एक रानीने अपने पत्रमें सिर्फ एककी संख्या लिखी और पत्र भेज दिया। जब राजा सबकी मँगायी वस्तुएँ लेकर विदेशसे लौटा, तब उसने रानियोंकी माँगके अनुसार वे वस्तुएँ उनके घर भेज दीं और वह स्वयं, जिस रानीने एक की संख्या लिखकर भेजी थी, उसके घर गया। जाकर उससे कहा—'एक-का अर्थ मेरी समझमें नहीं आया। तुम्हें क्या चाहिए था ?' रानीने कहा—'जो मुझे चाहिए था, सो मुझे मिल गया। मुझे किसी वस्तुकी चाह नहीं थी, सिर्फ आपकी चाह थी और आप मुझे मिल गये।' इसको कहते हैं—अनन्य-शरणागति। सिर्फ आप और कुछ नहीं।

महाभारत-युद्धमें दुर्योधन और अर्जुन दोनोंने ही श्रीकृष्णसे सहायता माँगी। दुर्योधन द्वारिकाके महलमें उस समय पहुँचा, जब श्रीकृष्ण सुख-चैनकी मुद्रामें सो रहे थे। श्रीकृष्णको सोता देख दुर्योधन जाकर, उनके सिरहाने-ऊँचे आसनपर बैठ गया। अर्जुन भी तभी पहुँचा। श्रीकृष्णको सोता देखकर वह उनके चरणोंकी

ओर नीचे आसनपर बैठ गया। श्रीकृष्णकी आँख खुली और उनकी दृष्टि अर्जुनपर पड़ी। विनयीपर भगवान्की दृष्टि पहले पड़ती है। सहायताका प्रस्ताव उठा। श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा—क्या चाहते हो? दुर्योधन बीचमें ही बोल पड़ा—'मैं पहलेसे आकर बैठा हूँ।' श्रीकृष्णने कहा—'यह ठीक है, तुम पहलेसे आकर बैठे हो, परन्तु मैंने पहले अर्जुनको देखा है और अर्जुन तुमसे छोटा भी है, इसलिए अर्जुनको ही पहले माँगनेका मौका मिलना चाहिए।' फिर श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'देखो, एक ओर बिना अस्त्र-शस्त्रके अकेला मैं रहूँगा और दूसरी ओर यादव-कुलके सभी वीरोंके साथ एक अक्षौहिणी-सेना रहेगी। तुम्हें दोनोंमें क्या पसन्द है।' अर्जुनने कहा—'मुझे अकेले आप पसन्द हैं। अकेले आप, बिना अस्त्र-शस्त्रके मेरी ओर रहिये।' अर्जुनके इस निर्णयसे दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई कि बिना माँगे ही, उसकी इच्छा पूरी हो गयी—उसे सभी यादव-वीरों सहित इतनी बड़ी सेना मिल गयी। अर्जुन तो प्रसन्न था ही। अर्जुनका अकेले श्रीकृष्णको वरण करना शरणागतिका प्रारम्भ था।

जब युद्ध प्रारम्भ होनेका समय आया, तब अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा—'बिना अस्त्र-शस्त्रके रहोगे ना?' श्रीकृष्णने कहा—'हाँ।' अर्जुनने कहा—'तब मेरे रथके सारथि बन जाओ। सारयति अश्वान्-इति सारथिः। जो रथके घोड़ोंका संचालन करे, वह सारथि। वेदमें मन्त्र है—'सुषारथिरश्वानिव' शिव-संकल्प-सूक्तमें सारथि शब्दके वर्णनमें है कि जीवन एक रथ है, बुद्धि सारथि है और बुद्धिमें बैठे हुए श्रीकृष्ण—'धियो यो नः प्रचोदयात्' बुद्धिके प्रेरक अन्तर्यामी, बुद्धिके अधिष्ठाता हैं, शरण्य हैं। शरणे साधुः शरण्यः—जो शरणागतकी रक्षामें सम्पूर्ण रूपसे तत्पर रहता है, उसको शरण्यः कहते हैं।

यह है श्रीकृष्णकी एक लीला, जो एक सेवककी तरह अर्जुनके रथका संचालन करते हैं, उसके जीवनको दिशा देते हैं। उससे कहते हैं—'बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतवः'—बुद्धिकी शरण लो।' कठोपनिषद्का भी कहना है—बुद्धि तु सारथिं विद्धि बुद्धि ही सारथि है। बुद्धिसे ही हम पहले किसी वस्तुके औचित्यको श्रेष्ठताको, उपयोगिताको समझते हैं—जानाति; फिर मनसे उसको पानेकी इच्छा करते हैं, इच्छति; और फिर इन्द्रियोंसे उसको करते हैं, करोति; यह विद्वानोंके द्वारा माना हुआ क्रम है।

अर्जुनने अपने जीवन-रूपी रथका, इन्द्रिय-रूपी घोड़ोंका और मन-रूपी लगामका संचालन, बुद्धि-रूपी सारथिके अधिष्ठाता श्रीकृष्णके हाथोंमें समर्पित कर दिया। यह अर्जुनकी दूसरी शरणागति थी। पहली शरणागति थी—अनन्य-वरण। अकेले श्रीकृष्णका वरण। सेना नहीं चाहिए। बहादुर नहीं चाहिए। केवल श्रीकृष्ण चाहिए। दूसरी शरणागति थी—जीवन-रथके सञ्चालक श्रीकृष्ण हों। रथी मालिक होता है और सारथि आज्ञाकारी। युद्ध प्रारम्भ होनेके पहले ही अर्जुनने श्रीकृष्णको आज्ञा दी—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।

श्रीकृष्णने झट अर्जुनकी आज्ञाका पालन किया। यह है भगवान्‌की करुणा, उनका वात्सल्य।

✓काञ्चीमें नारायणका एक मन्दिर है। उसमें राजाकी ओरसे पुजारी नियुक्त था! पुजारी ब्राह्मण था और साथ ही एक महात्माका भक्त भी। एक दिन राजा पुजारीपर नाराज़ हो गया। उसने पुजारीसे कहा—'तुम हमारा राज्य छोड़कर चले जाओ।' पुजारी महात्माके पास गया और बोला—'महात्माजी, राजाने मुझे निकाल दिया है, मैं जा रहा हूँ।' महात्माने कहा—

'बेटा, तुम ही मेरी सेवा-शुश्रूषा करते हो, पानी पिलाते हो, रोटी खिलाते हो, तो जब तुम ही यहाँसे जा रहे हो, तब मैं यहाँ कैसे रहूँगा ? मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। जब चलने लगे तब महात्माजी फिर बोले—'चलो, चलनेसे पहले भगवान्‌से बात कर लें।' नारायणके पास गये और बोले—'नारायण! हम यह नगर छोड़कर जा रहे हैं।' नारायणने कहा—'मैं तो महात्माओंके साथ-साथ रहता हूँ। तुम चले जाओगे तो मैं यहाँ कैसे रहूँगा ? मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। इतना कहकर उन्होंने अपनी शेष-शय्या लपेट ली और अपनी काँखके नीचे दबा ली। पुजारीकी सामग्री पुजारीकी काँखके नीचे, महात्माकी सामग्री महात्माकी काँखके नीचे और नारायणकी सामग्री नारायणकी काँखके नीचे ! आगे-आगे पुजारी, उसके पीछे महात्मा और महात्माके पीछे नारायण। तीनों चल पड़े। नगरमें अन्धकार छा गया। राजाको मालूम पड़ा। दौड़े-दौड़े गये। नारायणके चरणोंमें गिरकर बोले—'प्रभु ! मत जाइये।' नारायण बोले—'जब ये महात्मा जा रहे हैं, तब मैं यहाँ कैसे रह सकता हूँ ? इन्हें मनाओ।' राजा महात्माके पास गये। महात्माने कहा—'जब मेरा सेवक जा रहा है, तब मैं यहाँ कैसे रह सकता हूँ ? मेरे सेवकको मनाओ।' अन्तमें राजाने सेवक (पुजारी) को मनाया। सेवक लौटा, महात्मा लौटे और नारायण भी लौट आये। लौटनेपर नारायणने जब अपनी शेष-शय्या बिछायी तो शेषका मुँह उल्टा हो गया। इसलिए, काञ्चीके उस मन्दिरमें अब भी नारायण हैं तो शेष-शय्यापर, किन्तु शेषका मुँह, जो छत्रके रूपमें छाया करता हुआ होना चाहिए, उल्टा है। संस्कृतमें इसे 'यथोक्तकारी भगवान्' कहते हैं। आज्ञाकारो भगवान्। महात्माने कहा—हमारे साथ चलो, तो उनके साथ चल पड़े और महात्मा रुक गये तो स्वयं भी रुक गये। अपना अभिमान छोड़कर अपने सेवककी आज्ञानुसार चलना भगवान्‌की एक विशेषता है।

भगवान् आश्रित-कार्य-निर्वाहक हैं। वे कहते हैं—जिसने हमारी शरण ली है, उसका काम बना देना। अर्जुनने कहा—सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय। श्रीकृष्णने कहा—'मालिक जो आपकी आज्ञा।' भगवान् सेवक बनकर भी जीवका कल्याण करते हैं।

'सत्त्वमेकं द्विधा स्थितं'—महाभारत। सत्ता एक है, पर वह दो रूपोंमें स्थित है—जीव और ईश्वर। नर और नारायण। अर्जुन जीव हैं, नर हैं और श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, नारायण हैं। बड़ेका बड़प्पन, अपने बड़प्पनके विज्ञापनमें नहीं है, बल्कि उसके द्वारा की गयी सेवामें है। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहा करते थे कि सृष्टिमें सबसे बड़ा सेवक ईश्वर है। वही सबको बुद्धि देता है, शक्ति देता है, प्रेरणा देता है। वही सबको भोजन-पानी देता है और वही सबका पालन-पोषण करता है। ईश्वर ही सबकी सेवा करता है और ईश्वरकी ईश्वरता इसीमें है कि वह सबका सेवक है।

असली नर तो वही है, जिसके सारथि स्वयं नारायण हैं। जबतक नरके सच्चे सारथि नारायण नहीं बनते तबतक नरके नर होनेमें भी सन्देह रहता है। अर्जुन नर हैं और उसके सारथि स्वयं नारायण। अर्जुन आश्रित हैं और कार्य-निर्वाहक श्रीकृष्ण। तो पहली शरणागति हुई—अनन्यवरणके रूपमें और दूसरी शरणागति हुई—सारथिके सम्पूर्ण रूपको अभिव्यक्ति देनेमें।

अब हम अर्जुनकी विशेषताओंपर ध्यान देते हैं। अद्भुत हैं। अर्जुनने कहा है—

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।

"मैं राज्य लेकर क्या करूँगा? मैं भोग लेकर क्या करूँगा? मैं जीकर क्या करूँगा? मैं अपने लिए युद्ध-भूमिमें नहीं आया हूँ। 'येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।' मैं जिनके लिए

राज्य चाहता हूँ, वे अपने प्राण और धनका मोह त्याग करके युद्धभूमिमें मरनेके लिए तैयार हैं। जब वे ही नहीं रहेंगे, तब मैं राज्य लेकर क्या करूँगा? मुझे तो इनका ही हित चाहिए और इनके लिए ही राज्य चाहिए।' अर्जुनकी दृष्टिसे युद्ध लोक-कल्याणके लिए है, परन्तु इस समय उसको युद्धसे लोक-कल्याण होता नहीं दीखता है। इसलिए उसके मनमें दुविधा पैदा हो जाती है और वह धनुष-बाण फेंककर बैठ जाता है—'विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।' जब कि दुर्योधनकी दृष्टिसे युद्ध उसके लिए है। वह कहता है—'युद्ध मेरे स्वार्थके लिए है और ये सब लोग मेरे लिए मरनेको तैयार हैं—'मदर्थे त्यक्तजीविताः।'

भगवान्‌के प्रति अर्जुनका प्रेम अनन्य वरणके रूपमें प्रकट हुआ और भगवान्‌का सारथित्व युद्धके आरम्भमें अर्जुनकी आज्ञा माननेसे प्रकट हुआ। परन्तु अर्जुनने अपनी बुद्धिका सारथि भगवान्‌को बनाया है—इसकी भी तो अभिव्यक्ति होनी चाहिए। दुनियाके सामने यह भी तो जाहिर होना चाहिए कि अर्जुन सचमुच अपने शरीरमें रहनेवाली बुद्धिको नहीं, बल्कि श्रीकृष्णकी बुद्धिको ही अपनी बुद्धि मानता है। मनुष्यके साधारण बोलने-चलने, हँसने-खेलनेके ढङ्गसे भी जाहिर हो जाता है कि उसका झुकाव कहाँ है। वह किसे टेढ़ी नजरसे और किसे प्रेम भरी नजरसे देखता है।

> आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्।
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
> आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

शरणागतिका एक अङ्ग है कार्पण्य। इसे लोग जल्दीसे स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु अर्जुन सच्चा शरणागत है, वह स्वयं कहता है—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः। क्षत्रियत्व, जो मेरा स्वभाव है—कार्पण्यके दोषसे घायल हो गया है, चोट खा गया है और मैं एक

निश्चय करनेमें असमर्थ हो गया हूँ। उसे अपने अन्दर आयी हुई निर्बलताका पता चल रहा है।

कार्पण्य आखिर क्या है ? कृपणका भाव। और कृपणका भाव क्या है ? इसकी व्याख्यामें बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा है—'गार्गि ! दुनियाको जोरसे पकड़कर रखनेवाला कृपण होता है, क्योंकि उसके पास परमात्माको, अक्षरतत्त्वको भी जाननेका समय नहीं होता है।' (कृपण शब्दका सोधा-सादा अर्थ है—परमात्माको जाने बिना मर जानेवाला।)

अर्जुनके यह कहनेपर कि वह युद्ध नहीं करेगा—श्रीकृष्णने अर्जुनको जोरसे डाँटा—जरा अपने मोहकी ओर तो देखो। इतनी जोरसे दुनिया पकड़े हुए हो कि कहते हो कि ये मेरे ताऊ-चाचा, भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी, रिश्तेदार-नातेदार हैं और इनको छोड़नेको तैयार ही नहीं हो।

इस विषयमें, सञ्जय कहते हैं कि अर्जुनके हृदयमें कृपाका उदय हुआ—'तं तथा कृपयाविष्टं' और श्रीकृष्ण कहते हैं कि—'कुतस्त्वा कश्मलं' अकारण ही यह निर्बलता तेरे हृदयमें आगयी। 'क्लैव्यं मा स्म गमः'—नपुंसक मत बनो। उठो, क्षत्रिय हो। यह तुम्हारा मिथ्या निश्चय है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा।

एक बारकी बात है। गोहरणके प्रसङ्गमें उत्तर रथी व अर्जुन सारथि बने थे। उस समय उत्तर युद्धभूमिसे यह कहकर भागने लगे कि मैं भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि वीरोंके सामने नहीं लड़ूँगा। तब, अर्जुनने उत्तरको भागने नहीं दिया और पकड़कर रथमें बाँध दिया और डाँटकर कहा—'मुझे सारथि बनाया है, तब लड़ोगे कैसे नहीं ? और यदि तुम नहीं लड़ोगे तो मैं तुम्हारी ओरसे लड़ूँगा। यह मेरी प्रतिष्ठाका सवाल है।' और फिर अर्जुन अकेला लड़ा और उसने भीष्म, द्रोण, कर्ण—सबको पराजित कर दिया।

इस तरह हम देखते है कि अर्जुनको उस समय तो अपनी प्रतिष्ठाका ध्यान रहा कि जब वह सारथि है तब रथी भाग नहीं सकता—वह स्वयं युद्ध करके इसको विजयी बनायेगा, परन्तु, अब जब श्रीकृष्ण सारथि बने, तब वह उनकी प्रतिष्ठाकी बात बिल्कुल भूल गया और स्वयं भागनेको तैयार हो गया। इससे पता चलता है कि इस समय अर्जुनका स्वभाव सचमुच स्वस्थ नहीं है, नीरोग नहीं है। यदि स्वस्थ होता तो न चित्तमें दुविधा आती और न ही अर्जुन धनुष-बाण फेंकता। भगवान्‌को युद्ध-भूमिमें अपना सारथि बनाकर ले जाना, वहाँ भगवान्‌से शङ्ख बजवाना और फिर कह देना कि मैं युद्ध नहीं करूँगा—सब अर्जुनकी अस्वस्थताके, असावधानीके परिचायक हैं।

अर्जुनकी समझमें यह बात तो बिना कहे ही आगयी थी कि उसके अन्दर कार्पण्य आगया है, जिसकी वजहसे वह अपने सगे-सम्बन्धियोंको छोड़नेमें असमर्थ है। वह अपने आपको धर्म सम्मूढ-चेता भी समझ रहा है। क्योंकि वह नहीं समझ पा रहा है कि उसका धर्म क्या है ? युद्ध करना कि युद्ध नहीं करना। वह कहता है—'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'—मुझे भिक्षा माँगकर भी इस जीवनका निर्वाह करना पड़े और युद्ध न हो, तो वह अधिक कल्याण-कारी होगा। इस तरह हम देखते हैं कि अर्जुनकी बुद्धि ठीक उसी तरह आगे-पीछे आन्दोलित हो रही है, जिस तरह झूलेमें बैठा हुआ आदमी आगे-पीछे होता रहता है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे फिर कहते हैं—

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।

बाबा, एक क्षत्रियके लिए, एक योद्धाके लिए धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं होता है और जो धर्मकी रक्षा करनेके लिए आगे बढ़ चुका है, उसका पीछे हटना ठीक नहीं है।

आगे बढ़कर पीछे हटना नहीं काम मर्दानोंका।

× × ×

जाके समुहे दुश्मन बैठे ताके जीवनको धिक्कार।

अब अर्जुन वोलते हैं—न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो—महाराज ! धर्मके निर्णयमें मैं असमर्थ हो गया हूँ और मेरा स्वभाव मेरे विपरीत हो गया है। मेरे लिए प्रवृत्ति-धर्म ठीक है या निवृत्ति-धर्म ठीक है—यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे—मुझे बतलाइये। शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे शिक्षा दीजिये। यह बुद्धिकी शरणागति हुई।

'प्रपन्नम्'का अर्थ होता है—अपनी ओरसे भगवान्के चरणोंको पकड़ना। प्रपदका अर्थ होता है—पञ्जा : पाँवका ऊपरी हिस्सा। प्रपत्ति होती है—भगवान्के पञ्जेमें और शरणागति होती है—भगवान्के तलवेमें। श्रीवैष्णव-सम्प्रदायमें भी प्रपत्ति और शरणागतिको अलग-अलग मानते हैं। यह अर्जुनकी प्रपत्ति हुई—मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। मेरा शासन करो। मुझे शिक्षा दो।

अब देखो—सेनाके सम्बन्धमें प्रपत्ति हुई—अनन्य-वरण; आश्रित-कार्य-निर्वाहके सम्बन्धमें प्रपत्ति हुई—सेनायोरुभयोर्मध्ये और बुद्धिके सम्बन्धमें प्रपत्ति हुई—शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। परन्तु फिर भी अभी शरणागतिमें त्रुटि है। यह पूरी नहीं है। पूर्ण कैसे नहीं है ? अगले श्लोकमें अर्जुन बोलता है—'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।' मैं लड़ूँगा नहीं। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। तुम्हारा शिष्य हूँ। मेरा शासन करो। मुझे शिक्षा दो ! सब कुछ कहता है। परन्तु साथ-साथ यह भी कहता है कि मैं 'लड़ूँगा नहीं'। अरे भाई। यह कैसी शरणागति है ? आपकी सब बात मानूँगा, एक बात नहीं मानूँगा। एक बातके लिए मैं आपकी बुद्धिकी नहीं, अपनी बुद्धिकी बात मानूँगा—अर्थात् अहंकार है। अभिमान-शून्य शरणागति अभी नहीं हुई है ! और 'न योत्स्य'–क्रियाकी भी शरणागति नहीं हुई है। क्योंकि अन्तमें अर्जुन

कहता है—'करिष्ये वचनं तव ।' इसलिए शरणागति तो पूर्ण तब होगी, जब पूर्ण आज्ञाका पालन होगा !

हम बड़े-ब्रड़े वक्ताओंको जानते हैं, जो कहते हैं कि बस, गीताका भाव इतना ही है । ऐसे लोग भगवान्‌की वाणीको बहुत ही संकीर्ण बनाकर रखना चाहते हैं; एक सीमामें ले आना चाहते हैं ।

भारद्वाज-मीमांसा-दर्शन और आङ्गिरस-मीमांसा-दर्शनका कहना है कि हम कैसे पहचानें कि यह भगवान्‌की वाणी है ? कोई कहता है कि भगवान्‌ने ऐसे कहा है और कोई कहता है कि भगवान्‌ने वैसे कहा है । कोई भी मतवादी, कोई भी पन्थाई आकर बोल देता है कि भगवान्‌ने हमसे ऐसे कहा है, यह कहा है । पर, हम कैसे जानें ? बोले—भाई, भगवान्‌की वाणीकी एक पहचान है कि उस वाणीसे सत्-चित्-आनन्द प्रकट होता है ! जैसे अनन्त-जीवन, अनन्त-ज्ञान और अनन्त-आनन्द भगवान्‌का स्वरूप है, वैसे ही उनकी वाणीके एक-एक अक्षरसे, एक-एक वाक्यसे, एक-एक प्रकरणसे, एक-एक अध्यायसे—वह सत्-चित्-आनन्द प्रकट होता है । वे सच्चिदानन्द हैं तो बोलेंगे भी सच्चिदानन्द ।

भगवान्‌की वाणीकी दूसरी पहचान यह है कि वाणीसे सत्त्वगुणी रजोगुणी, तमोगुणी—तीनों प्रकृतिके लोगोंका भला होता है कि नहीं ? जिसमें सबके हितपर दृष्टि नहीं है, केवल एक मजहबपर, पंथपर, एक सम्प्रदायपर, एक फिरकेपर दृष्टि है—वह न भगवान्‌की दृष्टि है और न भगवान्‌की वाणी है ! गीतामें सबके हितकी बात कही गयी है । इसलिए यह भगवान्‌की वाणी है !

आपको अपनी एक बात सुनाता हूँ ! मैंने व्यक्तिगत रूपसे गीता पढ़ी है । हमलोग पाँच-छः व्यक्ति अलग-अलग तरहकी गीता लेकर पढ़ने बैठते थे । किसीके हाथमें शांकर-भाष्य, किसीके हाथमें शंकरा-नन्दी, किसीके हाथमें मधुसूदनी, किसीके हाथमें ज्ञानेश्वरी और किसीके हाथमें लोकमान्य-तिलक गीता रहती थी । हम सब आपसमें

मिलकर पढ़ते और विचार करते कि हम ब्राह्मण हैं तो भगवान्ने हमको क्या आज्ञा दी है ? हम क्षत्रिय हैं तो भगवान्ने हमको क्या आज्ञा दी है ? हम वैश्य हैं तो भगवान्ने हमको क्या आज्ञा दी है और यदि हम शूद्र हैं तो भगवान्ने हमको क्या आज्ञा दी है ? और यदि हम हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधे हैं तो हमको भगवान्ने क्या आज्ञा दी है ? फिर कहते—'कर्मण्येवाधिकारस्ते ।'

गधे हैं तो क्या हुआ ? अपना जो काम है–बोझ ढोनेका, उसको छोड़ो मत । बोझ ढोते चलो । इस तरह सारी गीतामें एक स्थितिके साथ तादात्म्य करके हम उसका अध्ययन करते थे ! गीता भगवतीने, हमारी योग्यताके अनुसार हमको अर्थ बताया, बताती गयी और अब भी बताती रहती है । गीता हमको प्रतिदिन एक नया संदेश, एक नया रहस्य, एक नयी दिशा बताती है ।

हम देखते हैं कि श्रीकृष्णके हाथोंमें केवल अर्जुनके घोड़ोंकी, अथवा केवल उसकी क्रियाकी ही बागडोर नहीं है—'हृषीकेशः' बल्कि उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी बागडोर हैं । श्रीकृष्ण सिर्फ अर्जुनके घोड़ोंके स्वामी नहीं हैं, बल्कि उसके सम्पूर्ण ज्ञान, इच्छा, क्रिया व वस्तु-शक्तिके स्वामी हैं । इसमें चार बातें आयीं, एकका वरण, सारथिकी सत्यताकी अभिव्यक्ति, लोक-कल्याणकी दृष्टि व श्रेयस्का अनुसन्धान ।

अर्जुन रो रहा है—'शोकसंविग्नमानसः' और रोते हुए-के सामने हँसते हुए कुछ कहना उचित नहीं है । इसलिए 'प्रहसन्निव भारत' श्रीकृष्ण भीतरसे हँस रहे हैं और बाहरसे कह रहे हैं—'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं'—रे अर्जुन, शिष्य बन गया, प्रशासनकें लिए आग्रह करता है और साथ ही कहता है कि मैं लड़ूँगा नहीं ! कैसा शिष्य है ?' करुणा उमड़ पड़ी भगवान्के हृदयमें और यह शरणागति-ग्रन्थ गीता (श्री वैष्णवोंकी भाषामें) प्रकट हो गया ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन–२

भिन्न-भिन्न लोगोंने गीताके भिन्न-भिन्न नाम रक्खे हैं—अध्यात्मयोग, कर्मयोग, समर्पण-योग, अनासक्ति-योग, शरणागति योग !

शरणागति भगवद्बलकी प्रधानतासे होती है। इसमें अपनी निर्बलताका बल होना ही जीवका अपना बल होता है। शरणागतिमें अधिकारीके विषयमें विशेष खोज-बीन, पूछ-ताछ नहीं होती कि वह कौन है ? कहाँसे आया है ? क्या करके आया है ? सिर्फ भगवान्‌के सामने होना जरूरी होता है।

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
कोटि विप्र वध लागहिं जाहू।
आयहु शरण तजहूँ नहिं ताहू॥

भगवान् शरणागतका पाप नहीं देखते। उसका इतिहास नहीं देखते। उसके पूर्ववृत्तके बारेमें पूछ-ताछ नहीं करते। 'अपि चेत्सुदुराचारो'। पापी-से-पापी भी शरणागतिका अधिकारी होता है। 'येऽपि स्युः पापयोनयः' प्रारब्धके कारण जीव चाहे जिस कूकर या शूकर योनिमें पैदा हुआ हो, शरणागतिका अधिकारी होता है।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'पापयोनयः' का अर्थ इस तरह किया है—

गृध्रादयः—भले ही गीध क्यों न हो, भगवान्‌की शरणमें जाने

पर भगवान् उसका परित्याग नहीं करते। क्रियमाणकी भी बात नहीं है और प्रारब्धकी भी बात नहीं है। बुरे प्रारब्धवाला और नीच योनिमें पैदा होनेवाला भी जब शरणागतिका अधिकारी होता है, तब जो उत्तम कोटिका है, उसकी तो चर्चा ही क्या ? शरणा-गतिके सब अधिकारी होते हैं।

इसको स्पष्ट करनेके लिए हम समर्पण और शरणागतिको अलग-अलग कर देते हैं और पहले समर्पणको लेते हैं।

गीतामें भगवान्ने कहा—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

देनेके लिए वस्तुका कोई नियम नहीं है कि हीरा दें; मोती दें; हजारों मन कोई चीज दें अथवा हजारों बीघा जमीन दें। एक पत्ता दे दीजिये। यह भी जरूरी नहीं है कि वह तुलसीका ही हो या बेलपत्र ही हो। जब पाकिस्तानसे सिन्धी लोग आये थे और उनके पास देनेके लिए कोई चीज नहीं होती, तब वे हमारे पास आनेके पहले रास्तेसे कोई पत्ता ही तोड़कर ले आते और लाकर सामने रख देते। पत्ता कामका है या बेकामका—वैसे अड्सेका पत्ता खाँसी व दमेमें काममें आता है—यह वे नहीं देखते थे। वे तो केवल खाली हाथ न जानेकी विधि पूरी करनेके लिए ही पत्ता तोड़ लाया करते थे ! पुष्पम्—रास्तेसे कोई भी जंगली फूल तोड़ लाते। फलम्-बेर या टेंटी ही ले आते। और कुछ नहीं मिलता तो जल ही ले आते। कहते—'महाराज ! यह यमुना-जल है'। भले ही कोई भी जल होता। इसको वस्तु-समर्पण कहते हैं। इसमें शर्त क्या है ? 'यो मे भक्त्या प्रयच्छति'। भक्तिसे लाकर दे दे। विदुरकी पत्नी भगवान्को केलेके छिलके देती गयी और भगवान् उनको खाते गये ! तो वस्तुका महत्त्व नहीं है, प्रेम-पूर्ण समर्पणका महत्त्व है। वस्तुका समर्पण

बहिरङ्ग समर्पण है और समर्पण यहींतक सीमित नहीं रहता है और आगे बढ़ता है। जो हम करें, सो सब भगवान्‌के प्रति समर्पित करें।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इसे समर्पण-योग कहते हैं। जो भी हम करें, सब भगवान्‌को समर्पित करें। कोई भी काम करें, उसके अन्तमें 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' बोल दें। परन्तु भोजन करना हो तो, भोजनके अन्तमें नहीं, भोजनके प्रारम्भमें 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' बोलें।

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।' इसका जो फल है, भोग है, धर्म है—उसमें दानात्मक धर्म मनुष्यके लिए है, हवनात्मक धर्म देवताके लिए और तपस्या आत्मशुद्धिके लिए है। इनका भी भगवान्‌के प्रति समर्पण है। इसके फलके लिए भगवान्‌ने बताया—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

इस तरह कर्मके शुभ और अशुभ दोनों फलोंसे मुक्त हो जाओगे और संन्यास पूरा हो जायेगा और मुक्त होकर भगवान्‌से मिल जाओगे। यह है समर्पण-योग। यह भी भक्तिका एक अङ्ग है।

परन्तु शरणागति समर्पण-योग नहीं है। इससे बहुत विलक्षण है। समर्पण केवल कर्म, धर्म, आत्म-शुद्धिका ही नहीं होता, बल्कि पूरे-पूरे मन और बुद्धिका भी समर्पण हो जाता है। 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय'। आधत्स्व और निवेशय—दोनोंका ही अर्थ समर्पण है। मन आधत्स्व—माने मनका समर्पण और बुद्धि निवेशय—माने बुद्धिका समर्पण। अर्थात् अपने साथ लगा हुआ जो मन है—उसको भगवान्‌के साथ लगा दो और अपने साथ लगी हुई जो बुद्धि है, उसको भी भगवान्‌के साथ लगा दो। यह हो जायेगा—

मन और बुद्धिका समर्पण। वस्तुतः भगवान्‌का ही दिया हुआ मन और भगवान्‌की ही दी हुई बुद्धि—सब भगवान्‌का ही है, तब-'तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर।' यह भी एक प्रकारका समर्पण है।

भक्तिमें चाहे 'भजताम् अनन्यभाक्' हो, चाहे 'भक्त्या मामभिजानाति' हो, जीवका जो नियोज्यकर्तृत्व है, वह वना रहता है। यह भक्तोंका पारिभाषिक शब्द है। भगवान् मुख्य कर्त्ता हैं और जीव गौण, नियोज्य कर्त्ता है। भगवान् जैसा नियुक्त करते हैं, जीव वैसा करता है। और यदि कभी कोई गलती हो जाती है, तो ढीठ होकर भगवान्‌से नहीं कहता कि तुमने गलती करवायी। वैसे कई लोग बड़े ढीठ होते हैं। वे झट कह देते हैं कि हमने गलती कहाँ की, तुमने करवायी तब की, इस प्रसङ्गमें मैं आपको एक बात सुनाता हूँ। किसी सज्जनको एक नौकरकी जरूरत थी। 'इण्टरव्यू'के लिए लोगोंको बुलाया करते। उनसे कहते—एक गिलास पानी लाओ। ले आता तो कहते—फेंक दो। फेंक देता, फिर पूछते-क्यों फेंका? उत्तर मिलता—आपने कहा—इसलिए। तब कहते—जाओ। उसको रखते नहीं। कई दिन यह क्रम चला। फिर एक नौकर आया। उससे भी वैसा ही कहा–लाओ, फेंको और फिर पूछा—क्यों फेंका? वह बोला—गलती हो गयी मालिक! बस, झट उसने इस नौकरको पसन्द कर लिया, रख लिया। 'सेवक सो जो करै सेवकाई' और जो 'गुण तुम्हारा समुझै निज दोषू' ईश्वरपर दोष न लगावे कि यह गलती तुमने की है। गलतीका भार अपने ऊपर ले ले। भक्ति ऐसी ही होती है।

परन्तु यहाँ भी अभी पूर्ण शरणागति नहीं हुई। अभी प्रयोजक (चलानेवाला) भगवान् और प्रयोज्य (चलनेवाला)

भक्त है। भगवान् ऐसे ही किसीको नहीं चलाते हैं। उसके पूर्व-कर्म और वर्तमान-कर्म दोनों देखते हैं। अन्तःकरणमें जो रहता है, वह भी देखते हैं। बल्कि उसका आश्रय और प्रीति कहाँ है यह भी देखते हैं। इसे आप यों समझें, एक मुनीम है। सेठके यहाँ ईमानदारीसे काम करता है और जो तनख्वाह मिलती है, उसे अपनी पत्नी व बच्चोंकी सुख-सुविधाके लिए खर्च करता है। सेठका आश्रय है और पत्नी व बच्चोंसे प्रीति है। यानी आश्रय अलग और प्रीति अलग। इसको सकाम भक्ति बोलते हैं।

निष्काम भक्तिमें—'मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।' मय्यासक्तमनाः और मदाश्रयः—दोनों एकसे होना चाहिए। आश्रय जिसका, प्रीति भी उसीसे। इसमें बँटवारा नहीं होता कि आश्रय किसी औरका और प्रीति किसी औरसे। इस विषयमें कला-विलासमें अद्भुत दम्भका परिचय दिया है—एक स्त्री है। वह जाहिर करती है कि वह महाराजकी सच्ची प्रेमिका, सेविका है। अपनी सेवासे महाराजको प्रसन्न कर लेती है और जब वे प्रसन्न हो जाते हैं, तब उनसे कहती है कि उसका यार जेलमें बन्द है, कृपया उसे छोड़ दें। यह सकाम मुक्ति हुई आश्रय महाराजका, प्रीति यारसे।

और देखिये। वेदान्ती शिष्य गुरुके शरणागत होते हैं और मुक्ति चाहते हैं। आश्रय सद्गुरुका, प्रीति मुक्तिसे। यह भी सकाम भक्ति हुई।

यही बात उपनिषदोंमें भी आयी है। उपनिषद्में अन्त है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं·········मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।

इसमें शरण और प्रपत्ति दोनों शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है—मैं आपके पास आया हूँ और चाहता हूँ मुक्ति। शरण है आपकी और लक्ष्य है जेलखानेसे छूटना।

आश्रय किसीका और प्रीति किसीसे यह है सकाम भक्ति और जिसका आश्रय उसीसे प्रीति, यह है निष्काम भक्ति।

भगवान् धर्मात्मा बलिके पास जाते हैं। अदितिकी कामना पूरी करनेके लिए अथवा इन्द्रको राज्य देनेके लिए नहीं बल्कि इतना बड़ा धर्मात्मा बलि कहीं किसी छोटी चीजमें न अटक जाये, इस करुणाके वशमें होकर। शरणागत भगवान्‌के पास आवे यह दूसरी बात है और शरणागतके पास भगवान् जायँ, यह दूसरी बात है। और प्रह्लादका कहना है कि बलिपर जो कृपा भगवान्‌ने की और बलिका भी अन्तमें कहना है कि 'मेरे ऊपर जो कृपा की, वह कृपा भगवान्‌ने कभी किसीपर नहीं की।' यह बात मूल भागवतमें भी आती है—

अलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः। ८.२३.२

'भगवान्‌ने अपना चरण-कमल मेरे सिरपर रख दिया। मैंने अर्पित नहीं किया, भगवान्‌ने अपना चरण अर्पित किया।' बोलनेकी शैली देखिये। बलिने लोक भी दे दिया, परलोक भी दे दिया। भगवान्‌ने कहा—'अभी पूरा नहीं हुआ।' भगवान्‌को देना क्या है? भगवान्‌ने फिर कहा—'बाबा, जो कुछ मेरा है, सो सब मुझको दे दो। अधूरा क्यों देते हो?' बलिके दिमागमें यह बात नहीं आयी थी कि भगवान्‌को लोक-परलोक समग्र समर्पित कर देनेपर भी क्या देना बाकी रह गया? किसका बन्धन शेष रह गया? बोले—'शब्द-रूप गरुड़का।' फिर गरुड़से बँधवाया। वेदोंसे ऊपर नहीं जा सकते। लोक-परलोक देनेके बाद भी बलि शब्द-ब्रह्मसे मुक्त नहीं हुए। गरुड़ने उनको बाँध लिया। अभी है चक्करमें। भगवान्‌ने डाँटा। बड़े जोरसे फटकारा। 'तीन पग धरती देनेका वादा करके पूरा नहीं करते हो!' वेदोंमें इसका वर्णन अनेक स्थानोंपर है कि अव्यक्त प्रकृतिसे लेकर धूलिके एक कण-

पर्यन्त जिनके चरणोंमें हैं, उन प्रभुने दो पगमें समग्र विश्वसृष्टिको नाप लिया। बलिकी समझमें बात आयी। उसने कहा—'पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्' तीसरे पगके लिए अपना पाँव मेरे सिरपर रख दीजिये। चतुर्थ पग तो देने-लेनेका है नहीं। वह तो जो आप हैं सो ही हम हैं। लेकिन, तृतीय-पद, जहाँ अहं शेष रहता है, देनेका भी होता है और लेनेका भी होता है। बलिने तो किया था समर्पण, पर भगवान्की इतनी करुणा कि उन्होंने बलिके इस समर्पणको बलात् शरणागतिका रूप दे दिया।

शरण शब्द शॄ हिंसायां धातुसे बनता है और इसकी विशेषता यह है कि इसमें सबका—यहाँ तककी अपना भी संहार हो जाता है और केवल भगवान् रह जाते हैं। 'मैं मर जाऊँ तू प्रभु जीवे' हे प्रभु, मैं मर जाऊँ और तू जीता रह। बहुत ही कठोर शब्द है, 'मैं मर जाऊँ तूँ प्रभु जीवे।' इसको दूसरी तरहसे समझिये। सब रूपमें भगवान् ही भगवान्। भगवान्के अतिरिक्त कुछ प्रतीत ही न हो। उनके अतिरिक्त जो कुछ रहता है, सब मर जाता है। सबकी हिंसा हो जाती है। जब एकमात्र भगवान् रह जाते हैं, तब उसका नाम शरण होता है।

शरण शब्दकी व्याख्यामें, अमर-कोषमें कहा—'शरणं गृहरक्षित्रोः'। घर जिसमें हम रहते हैं, उसका नाम शरण है और प्रभु जो हमारे रक्षक हैं, उनका नाम शरण है। यदि निवास अलग हो और रक्षक अलग हो तो रक्षककी कीमत घट जाती है। वह सिर्फ एक रक्षक, एक पहरेदार ही रह जाता है। क्योंकि दोनों अलग-अलग होते हैं—घर और घरका मालिक मैं और उसका रक्षक कोई दूसरा। कीमत घट गयी। परन्तु जहाँ घर और रक्षक दोनों एक होते हैं, जिसमें हम रहते हैं, जब वही हमारा रक्षक होता है, तब कीमत बढ़ जाती है और उसका नाम 'शरण' हो जाता है।

गीतामें आया—'बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणा फलहेतवः' बुद्धिमान् लोग बुद्धिकी शरण लेते हैं। उपनिषद्में भी कहा है—'बुद्धिमें अन्तर्यामी रूपसे परमात्मा रहता है और वही बुद्धिमें बैठकर उसको चलाता है।' वेदमें भी कहा है—'धियो यो नः प्रचोदयात्।' उपनिषद्में कहा है—'आत्मबुद्धिप्रकाशम्'—हमारी बुद्धिमें परमात्माका प्रकाश होता है।

कोई भी आपके पास सलाह लेनेके लिए आवे तो उसको कहना चाहिए कि भगवान्ने उसको भी बुद्धि दी है, वह स्वयं सोचे, समझे और फिर जो उचित हो सो करे। अपनी बुद्धि उसपर नहीं लादनी चाहिए बल्कि उसको उसकी अपनी बुद्धिको उपयोगमें लेनेकी सलाह देनी चाहिए। इसे इस तरह समझो—एक विद्यार्थी किसी सवालका हल पूछनेके लिए मास्टरके पास गया और मास्टरने उसे हल बता दिया। पर, आप सोचें कि इससे विद्यार्थीका हित हुआ कि अहित ? हित तो तब होता, जब वह विद्यार्थीके सामने उस सवालका हल निकालकर बताता कि यह इस तरह किया जाता है। इससे विद्यार्थी हल भी जान जाता और हल निकालनेका तरीका भी जान जाता और हल बता देनेसे तो सिर्फ हल ही जान पाया, तरीका तो जान नहीं पाया।

आजकल तो लोग हमारे घण्टे भरके व्याख्यानका मतलब भी एक सेकेण्डमें निकाल देते हैं। बोलेंगे—इसका सार तो यही है ना स्वामी जी ! भई, सिर्फ सार नहीं, उसकी प्रक्रिया, उसकी रीति भी जाननी चाहिए। प्रक्रियामें लक्ष्यका चिन्तन होता है और वह चिन्तन-धारा उसीकी सिद्धिके लिए प्रवाहित होती है। इस चिन्तन-धाराका प्रवाह, वेदान्तमें, गुरुकी शरणागतिमें भी है। 'निरन्तर-चिन्तन'—इस शरणागतिका रूप होता है। परन्तु अभी इसमें भी कुछ बाकी है। क्या बाकी है ? अपनी बुद्धिकी शरण बाकी है।

अच्छा, एक होता है उपाय और एक होता है उपेय। किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिए जो कुछ किया जाता है उसे उपाय कहते हैं और उस उपायके द्वारा जो प्राप्त किया जाता है उसे उपेय कहते हैं। उपाय शब्दका अर्थ इस तरह है—उपादायापि ये हेयाः। पहले स्वीकार कर लें और फिर उसका त्याग कर दें—यह हो गया—उपाय। जैसे नदी पार करनेके लिए नावका सहारा लिया और नदी पार करनेके बाद, नावको—उपायको छोड़ दिया। नदी पार करनेके लिए नाव एक उपाय मात्र थी। ज्ञान प्राप्त करनेके लिए गुरु बनाया और जब ज्ञान प्राप्त हो गया, तब गुरुको छोड़ दिया। गुरु ज्ञान प्राप्त करनेके लिए एक उपाय मात्र था। भगवत्प्राप्तिके लिए बहुत-से साधन किये और जब भगवत्-प्राप्ति हो गयी, तब सब साधन छोड़ दिये। तो जो साधन भगवत्प्राप्तिके बाद छोड़ दिये जाते हैं, वे भगवत्प्राप्तिके उपाय कहलाते हैं और भगवान्, जिन्हें प्राप्त किया जाता है, उपेय कहलाते हैं। शरणकी विशेषता यह है कि इसमें उपाय और उपेय दो नहीं होते—एक ही होता है। अर्थात् जो भगवान्की प्राप्तिका उपाय है, वह भी भगवान् और जिन्हें प्राप्त करना है, जो उपेय है—वह भी भगवान्—दोनों एक हैं। भगवान् ही साधना और भगवान् ही साध्य। भगवान् ही उपाय और भगवान् ही उपेय। यह उपाय-उपेय वैष्णवोंकी भाषामें बोला जाता है। शरणागति वहाँ होती है, जहाँ दोनों एक होते हैं।

अब हमें देखना है कि गीतामें इसका उपयोग किस अर्थमें किया गया है। उपायके अर्थमें, अथवा उपेयके अर्थमें साधनके अर्थमें, अथवा साध्यके अर्थमें ? शरणका अर्थ केवल साधन या शरणका अर्थ—स्वयं भगवान् ? हम देखते हैं कि गीतामें, भगवान्के नामोंमें-से एक नाम शरण भी है—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

इसमें सब सम्प्रदायोंके नाम हैं। द्वादशात्मा भगवान्‌ने अपनी बारह विशेषताएँ इस श्लोकमें बतायी हैं। आप गिन लेंगे तो मिल जायेंगी। इसमें एक विशेषता–'शरण मैं ही हूँ'—यह भी बतायी। शरण भक्ति नहीं है। शरण भक्त नहीं है। शरण भक्ति-निष्ठ भी नहीं है। भक्तिसे ही भक्त शब्द बनता है। जिसके हृदयमें भक्ति रहती है—'भक्तिः अस्यास्ति इति भक्तः'—उसको भक्त कहते हैं। अर्थात् भक्ति भक्तके हृदयमें रहती है। और शरण ! शरण भगवान्‌में ही रहती है। यह भगवान्‌से अलग रह ही नहीं सकती। रहती ही नहीं। इसलिए भगवान्‌का एक नाम शरण है !

हमसे डाक्टर गोविन्दानन्दजीने कहा कि सभी सम्प्रदायोंमें शरणागतिका जैसा रूप है, वह बताऊँ। शरणागति जैन सम्प्रदायमें भी है। जैन-भाषामें इसे 'आत्त-शरणो-भव' बोलते हैं। आत्त माने आत्मा। यानी आत्माकी शरणमें रहो। उनका कहना है कि यह सृष्टि पुद्‌गलोंसे बनी हुई है और इसमें अनादिकालसे संस्कारोंकी धारा बह रही है और जीव जन्मसे मृत्यु और मृत्युसे जन्ममें प्रभावित हो रहा है। अतः इनका आश्रय छोड़कर अपनी उस आत्माकी शरण लो, जिसमें न राग है, न द्वेष है, न जन्म है और न मृत्यु है। इसको 'आत्त-शरणो भव' बोलते हैं। जैन-धर्ममें महावीरकी, ऋषभदेवकी, पार्श्वनाथकी शरण मुख्य नहीं है। वहाँ आत्म-शरण होना ही मुख्य है। जो भी आत्म-शरण, आत्म-निष्ठ हो गया, वह निर्भार होनेके कारण, सिद्ध-शिलापर बैठकर अलोकाकाश जानेका अधिकारी हो गया।

शरणागति बुद्ध-धर्ममें भी है। पर, वहाँ शरणागति जरा दूसरे ढङ्गकी है। इसमें—बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि है। तत्त्व-दृष्टिसे बुद्धकी शरणागति है, साधन-दृष्टिसे धर्मकी शरणागति है और आचार-दृष्टिसे संघकी शरणागति है।

शरण शब्दका प्रयोग बौद्ध-धर्ममें भी है और जैन-धर्ममें भी है और वेदान्तमें भी है ही ! पर विशेषता यह है कि बौद्ध-धर्ममें बुद्ध-शरण है और जैन-धर्ममें आत्म-शरण है। बुद्धकी शरणमें हो जाना-बुद्धकी करुणाकी पराकाष्ठा है और अपनी शरणमें आप हो जाना पौरुषकी पराकाष्ठा है। करुणा-प्रधान बौद्ध-धर्म है और अहिंसा प्रधान जैन-धर्म है।

न्याय-वैशेषिकमें शरणागतिका कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। उसमें तो सभी पदार्थ ऐसे हैं कि यदि साधर्म्य-वैधर्म्यके द्वारा उनका ज्ञान ठीक-ठीक हो जाये तो मुक्ति हो जाती है। उसमें कोई लोक नहीं है। सांख्य-योगमें साधनके रूपमें ईश्वरप्रणिधान एवं अन्ततः आत्म-स्थिति ही शरण है। पूर्व-मीमांसा और वेदान्तमें अन्तः-करणकी शुद्धिके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार मानते हैं।

अब हम आपको गीताकी जो शरणागति है—उसके बारेमें एक-दो बात सुनाना चाहते हैं। श्रीकृष्णने पहले तो अर्जुनसे अपनी बुद्धिकी शरण लेनेके लिए कहा। परन्तु शरणागतिका प्रसङ्ग आते-आते उन्होंने एक अन्य-पुरुषकी शरणमें जानेकी बात कह दी। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—मेरे भोले भाई ! अर्जुन माने भोले भाई, मैं तुम्हें कानमें कहनेवाली एक बड़ी गुह्य बात बताता हूँ। बल्कि 'गुह्यात् गुह्यतरम्'—गुह्यसे गुह्यतर बात बताता हूँ और वह गुह्यतम बात क्या है ?—

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

मैंने तुमको गुह्य बात बता दी, अब तुम्हारी जैसी मर्जी हो वैसा करो ! ईश्वर तो सबके हृदयमें रहता है। बचपनकी एक बात आपको सुनाता हूँ। हमारे यहाँ लकड़ी कटा करती थी। कभी हल बनानेके लिए बबूलकी लकड़ी कटती और कभी कोई अच्छी चीज

बनानेके लिए सीसमकी लकड़ी कटती। मैं देखता—लकड़ी कटती जाती, कटती जाती, कटती जाती और अन्तमें उसके बिल्कुल बीचमें-से एक कठोर चीज निकलती। उसको हीर बोलते। वह 'हीर' क्या होता। लकड़ीका हीरा। लकड़ीका हृदय! मैं सोचता—जब वृक्षके भी हीर, हृदय होता है, तब-इसमें भगवान् भी तो होंगे? ईश्वरः सर्वभूतानां....ठीक लकड़ीकी ही तरह जब वस्तुकी अन्तिम सत्ता रह जाती है, जब नाम व रूपका बाहरी अंश, छिलका छीलकर अलग कर देते हैं, तब वह ईश्वर होता है! यहाँ तक कि जूँ में व खटमलमें भी जो चेतना है, उसका भी नाम-रूप-रहित स्वरूप ईश्वर ही है! पेड़-पौधे-तृण आदिका भी नाम-रूप निषेध कर देनेपर, जो स्वरूप रहता है, वह ईश्वर ही होता है। सर्वभूतानाम्का अर्थ है—भवन्ति इति भूतानि सर्वाणि तेषां सर्वभूतानाम्। जो भी चीज है, सो ईश्वर है और जो भी चीज होगी, भूत माने होनेवाली—वह ईश्वर है। अस्ति और भवति यानी सब ईश्वर है। सबके हृदयमें परमात्माका निवास है। माने यदि नाम, रूप और क्रियाको अलग कर दें तो अन्तमें जो कुछ रह जायेगा, वह परमात्मा होगा! दृष्टान्तके लिए—तृणमें जो रूप है, उसको अलग कर दिया! जो रस, गन्ध, क्रिया और अवकाश है, उनको अलग कर दिया। तृणका जहाँ नाम-रूप-क्रियात्मक आवरण हटा दिया तो आवरण हटते ही वहाँ सत्‌रूपसे परमात्माकी प्राप्ति हो गयी। सर्वभूतानां हृद्देशे। सिर्फ सम्पूर्ण प्राणियोंके ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण पदार्थोंके हृद्देशमें ईश्वरका निवास है। अभी है। यहीं है। 'ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। तिष्ठतिका अर्थ है—ज्यों-का-त्यों रहता है। ईश्वर कहींसे चलकर आता नहीं है। कहीं चलकर जाता नहीं है। कभी फैलता नहीं है। कभी सिकुड़ता नहीं है। उसमें गति नामकी कोई चीज नहीं। वह ज्यों-का-त्यों रहता है और 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'—जिन सर्वभूतोंमें वह रहता है, उन

सर्वभूतोंको वह गतिशील करता है। पदार्थोंमें जो गति है, गमनागमन है, परिवर्त्तनशीलता है—वह सब ईश्वरके सान्निध्यसे ही है। ठीक वैसे ही, जैसे कि कोई आदमी नाव पर चढ़ा हुआ हो और नाव मशीनके सान्निध्यसे, मशीनके द्वारा चलायी जा रही हो! हवाई जहाज पर चढ़ा हो और हवाई-जहाज यन्त्रके द्वारा चल रहा हो—'यन्त्रारूढानि मायया'। जैसे यन्त्र नाव और हवाई जहाजको चलाता है, वैसे ही ईश्वरकी माया सारे जगत्को चलाती है! अतः माया और मायाके खेल, इन दोनोंसे दृष्टि हटा लो और उसे देखो, उसकी शरणमें जाओ, जिसके सान्निध्यसे सब कुछ चल रहा है। 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत!' हे भरतवंशी अर्जुन! भा = प्रतिभा। प्रतिभा-रत अर्जुन। तमेव शरणं गच्छ—उसी परमात्माकी शरणमें जाओ। वही शरण है। उसीसे मिलो। बोले कि कैसे जायँ? तो 'सर्वभावेन'। सर्वरूमें परमात्मा है—इस भावसे जाओ। और अपनी सम्पूर्ण भावनाओंको लेकर जाओ। 'तत्प्रसादात् परां शान्ति।' जब वह प्रसन्न होगा, तब वह निरावरण होकर तुमसे मिलेगा! प्रसाद माने निरावरण होकर मिलना! भगवान्को परदा पसन्द नहीं है! एक बारकी बात है—बाबाने मुझसे किसी महारानीको भागवत सुनानेके लिए कहा! मैं गया भागवत सुनानेके लिए! सब इन्तजाम बहुत अच्छा किया था! मेरे लिए बहुत बढ़िया सिंहासन बनाया था! मैं बैठ गया। देखा मैंने—एक ओर चिक लगी थी, सो महारानी सामने नहीं आयीं, जाकर चिकके भीतर बैठ गयीं। मैंने कहा—'यदि चिकके भीतर बैठकर कथा सुननी हो तो किसी और पण्डितको बुला लें और मुझसे कथा सुननी हो तो सामने आकर, घूँघट हटाकर बैठें। वर्ना मैं कथा नहीं सुनानेवाला।' फिर वे आकर सामने बैठीं और उन्होंने बड़े प्रेमसे कथा सुनी!

इसी तरह ईश्वरसे भी यदि मिलना है तो परदा हटाकर मिलना होता है। उन्हें परदा पसन्द नहीं है। इसीको 'तत्प्रसादात्

बोलते हैं। प्रसादका अर्थ है—निरावरण। स्थानका अर्थ है—अधिष्ठान। और तब आपको उस परा-शान्ति-रूप ईश्वरकी प्राप्ति होती है, जो शाश्वत स्थान है और जहाँ किसी तरहकी अशान्ति नहीं, किसी तरहका विक्षेप नहीं। किसी तरहका हिलना-डोलना, आना-जाना नहीं। परन्तु यह सब कहते-कहते जब भगवान्ने अर्जुनसे कह दिया—'उस ईश्वरके पास जाओ' तब अर्जुनके मनमें सन्तोष नहीं हुआ। अब और कौन-सा ईश्वर? यह बात आपको कल सुनावेंगे।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

प्रवचन—३

मैंने पहले कहीं पढ़ा था कि विदेशमें एक घोड़ा शिक्षित किया गया था। उसको सोलह प्रश्नोंका उत्तर देना आता था; सोलह ऐसे शब्द याद थे जिनके द्वारा वह अपने पाँवसे धरतीपर लिखकर उन सब प्रश्नोंका उत्तर दे देता था। इतना सुशिक्षित था वह। उसी तरह हम वेदान्ती लोग भी पन्द्रह-सोलह शब्दोंको याद रखते हैं और उन्हींसे सब प्रश्नोंका उत्तर दे देते हैं। यदि कोई हमसे कहे कि यह अभ्यास, निष्ठा, माया, उपाधि, अधिकरण, अधिष्ठान, अध्यस्त, आभास, प्रतिबिम्ब, अवच्छिन्न इत्यादि शब्द छोड़ दो तो हम ठन-ठनपाल हो जायेंगे। हमारा सारा ज्ञान इन्हीं पन्द्रह-सोलह शब्दोंमें निहित है। घुमा-फिराकर उन्हींको बोलते रहते हैं। हमारी भाषा समझनेवालेको हमारी बात आसानीसे समझमें आजाती है और हमारी भाषा नहीं समझनेवालेको हमारी बात समझनेमें थोड़ी कठिनाई होती है।

एक घोड़ेकी बात सुनायी, एक और सुना देता हूँ। किसी महा-राजाधिराजके पास एक बहुत सुशिक्षित घोड़ा था। एक बार उस पर चढ़कर कहीं जा रहे थे, रास्तेमें गिर पड़े। चोट लग गयी। घोड़ा सुशिक्षित था, उनको गिरे देख, उनकी ओर पीठ करके बैठ गया और वे सरककर घोड़ेपर चढ़ गये और जब वे बैठ गये तब, वह उन्हें अस्पताल ले गया। पर, उस अस्पतालमें ले गया, जिसमें चोट लगनेपर घोड़ेको ले जाया जाता था। इसी तरह हमारी शिक्षाका भी यही ढंग है कि हम घुमा-फिराकर आपको

अपने ही अस्पतालमें ले जायेंगे। वे ही पन्द्रह-सोलह शब्द और वही अस्पताल।

आपको कल सुनाया था कि पूजा, उपासना भक्ति, समर्पण, प्रपत्ति और शरणागति इन शब्दोंके अर्थमें कैसे-कैसे फर्क पड़ता है। पूजामें क्रियाकी प्रधानता होती है। उपासनामें विधिकी प्रधानता होती है। भक्तिमें प्रेमकी प्रधानता होती है और समर्पणमें भगवान्‌के लिए वस्तुका समर्पण—पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं; क्रियाका समर्पण—यत्करोषि; भोगका समर्पण—यदश्नासि; धर्मका समर्पण—यज्जुहोसि ददासि; और तपस्याका समर्पण होता है। और इतना ही नहीं, समर्पणको गीतामें इस तरह बताया—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

अपना प्यार भी भगवान्‌को दो और अपना विचार भी भगवान्‌को दो। मन और बुद्धि भी भगवान्‌के प्रति समर्पित करो।

समर्पणके साथ-साथ आपको शरण शब्दके विषयमें भी बताया था। सब साधना है। समर्पण भी एक साधना है। परन्तु शरणागतिमें उपाय और उपेय, साधना और साध्य दोनों एक हैं। इसमें यह बात सुनायी थी कि शरण भी भगवान् हैं और शरणागति भी भगवान् हैं। वही उपाय हैं, वही उपेय हैं। वही प्राप्य हैं और वही प्राप्तिके साधन हैं।

इस तरह शरणागति कोई कर्त्ताके अधीन रहनेवाली और की जानेवाली साधना नहीं है। इसमें तो स्वयं भगवान् ही शरणागत भक्तका कल्याण कर देते हैं। तो 'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्' में शरण रूप भगवान् हैं और 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' इसमें शरणागतिके विषय भगवान् हैं और शरणागतिरूप भगवान् हैं।

गीतामें 'गुह्य, गुह्यतर, राजगुह्य, सर्वगुह्यतमम्' ऐसे अनेक शब्दोंका प्रयोग हुआ है। गुह्य माने गोपनीय, रहस्य; जैसे अपने शरीरके गुह्य अङ्गोंको हम गुप्त रखते हैं, वैसे ही साधना-पक्षकी यह बात गुह्य है, गुप्त रखनेकी है। जैसे नवें अध्यायमें—'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्' राजगुह्यका वर्णन है और पन्द्रहवें अध्यायमें गुह्यतम ज्ञानका वर्णन है, वैसे ही यहाँ भी गुह्यात् गुह्यतर कहकर गुह्यतम ज्ञानका ही वर्णन किया। परन्तु सब कुछ करनेपर भी अर्जुनका मन प्रसन्न नहीं हुआ और वह निश्चिन्त नहीं हुआ।

यदि हमारे पास कोई सलाह लेनेके लिए आता है तो हम उसको कहते हैं कि देखो, तुम अपनी बुद्धिसे सोच-विचारकर काम करो तो यह क्या हुआ? 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' अपनी बुद्धिकी शरण। सोच लो, समझ लो और अपनी जिम्मेवारीसे विचारकर काम करो। पर, यदि वह बोले—'महाराज, हमारी समझमें नहीं आता है और हमारी बुद्धि काम नहीं करती है'—तब यदि हम उसको कह दें कि देखो, एक बहुत समझदार सज्जन हमारे पड़ासमें रहते हैं या फलां जगह रहते हैं, सो तुम उनके पास चले जाओ और उनसे सलाह ले लो, तो उसको कैसे सन्तोष होगा? इसी तरह जब भगवान्ने अर्जुनसे कहा—'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत' उसी अन्तर्यामीकी शरणमें जाओ जो तुम्हारे हृदयमें रहकर, बुद्धिका भी अन्तर्यामी रहकर तुम्हें प्रेरणा देता है, सबको प्रेरणा देता है तब उसे प्रसन्नता नहीं हुई।

एक बार मैंने देखा कि कर्णवासमें श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास एक सज्जन आये और उन्होंने कहा कि 'मुझको अपना शिष्य बना लीजिये। बाबाने कहा—'हम तुम्हें शिष्य नहीं बनायेंगे।' इससे दुःखी होकर वे कुटियाके पीछे बैठकर अनशन

करने लगे। पाँच दिन बीत गये और वे अनशन तोड़ें ही नहीं। फिर बाबा उनके पास गये और बोले—'देख, मैं तेरे जनम-जनमकी बात जानता हूँ। तेरे गुरु अमुक व्यक्ति हैं, मैं नहीं। तूँ उनके पास जा।' अन्ततोगत्वा उसने बाबाके बताये हुए गुरुसे दीक्षा ली, पर दीक्षा लेनेके बाद वह अपने गुरुजीका विरोधी हो गया और बाबाके पास आया। बाबा हँसकर बोले—'देखो, तुम्हारे मनमें विरोध और स्वार्थ कहाँ छिपा हुआ है, इसको न तुम जानते हो और न दूसरे लोग जानते हैं और गुरु बनानेको योग्यता भी अभी तुम्हारे अन्दर नहीं आयी है। हठ करके अथवा अनशन करके गुरु नहीं बनाया जाता है। गुरु तो तब बनाया जाता है, जब—'नान्यत् किञ्चिद् विजानामि त्वमेव शरणं मम'. हे स्वामी, मेरी बुद्धि विकुण्ठित हो गयी। तलवारकी धार मोटी पड़ गयी। हमारे पास जितनी युक्ति थी, सब समाप्त हो गयी—'नान्यत्-किञ्चित् विजानामि।' न मुझे सूझता है और न तो किसी औरको सूझता है यह मालूम पड़ता है। 'त्वमेव शरणं मम' तुम्हारे सिवाय मेरे लिए और कोई आश्रय नहीं है।

शरणागति मुख्यतः मनुष्यके लिए ही है, परन्तु पशु-पक्षी भी शरणागत होते हैं और उनकी भी रक्षा की जाती है। राजा शिविको शरणमें एक कबूतर आया। उसका पीछा एक बाज कर रहा था। कबूतर भागता हुआ आया और शिविके सिंहासनके नीचे घुस गया। कुछ बोला नहीं। 'शरणागतोऽहं' ऐसे बोला नहीं। बस, उनके सिंहासनके नीचे घुस गया। बाज आया। बोला—'यह मेरा भक्ष्य है, भोग्य है। मेरे भोग्यको आप छीन नहीं सकते।' शिविने कहा—'यह मेरा शरणागत है। इसे तुम छू नहीं सकते। चाहो तो बदलेमें कुछ ले लो।' बाजने कहा—'मुझे मांस चाहिए आपके शरीरका'। और अपने शरणागतिकी रक्षाके लिए शिविने अपने

शरीरका मांस काट-काट कर दिया। वह कबूतर था धर्म और वह बाज था इन्द्र। शरणागतकी रक्षा कैसे की जाती है—इसका एक उदाहरण है यह—

शरणागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय तिन्हहिं बिलोकत हानि॥

शरणागत रक्षाकी पद्धति ऐसी थी कि जो अपने शरणागतकी रक्षा नहीं करते तो लोग उनका मुँह नहीं देखना चाहते।

पर स्वयं श्रीकृष्ण, जिनको अर्जुन पहले 'परमब्रह्म परमधाम पवित्रं परमं भवान्' कह चुका है—वे श्रीकृष्ण जिन्हें अर्जुनने अन्य सैनिकों व सेनाका परित्याग करके अपने जीवन रथके सारथि और अपनी इन्द्रिय रूपी घोड़ोंकी बागडोरके नियन्ताके रूपमें वरण किया—कहते हैं कि तुम दूसरेके पास जाओ और जानेकी बात कही सो कही यह भी कहा—'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।' तुम पूर्णरूपसे इसपर विचार करो और फिर तुम्हारी जैसी मौज हो, वैसा करो। अर्जुन हक्का-बक्का हो गया—मैंने तो 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर इनकी प्रपत्ति ली, इनका शिष्य बना और अब ये मुझे दूसरेके पास भेज रहे हैं, तो मेरे अन्दर क्या त्रुटि आगयी? मन ही मनसे अर्जुनको श्रीकृष्णकी यह शिक्षा अच्छी नहीं लगी। श्रीकृष्णने फिर कहा—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

इस श्लोककी व्याख्या आपको फिर सुनावेंगे—अभी शरणागतिके सम्बन्धमें एक-दो बात और बताते हैं।

शरणागति नीचकी जो अपनेसे छोटा हो—कभी नहीं लेनी चाहिए। शरण उसीकी लेनी चाहिए जो सर्वज्ञ हो, माने हमारे हृदयकी जानता हो और सर्वशक्ति हो, माने उसको पूरा करनेकी

शक्ति रखता हो और इतना दयालु, इतना कोमल हृदय हो कि उसको पूर्ण किये बिना रह नहीं सकता हो।

आश्रित-कार्य-निर्वाहक—वह होता है जो अपने शरणागतके सारे कार्य, जो कुछ भी उसको अपने जीवनमें करना बाकी है, उसको स्वयं वही कर दे। कह दे—बस, बस, बस! अब तुम देखो और मैं तुम्हारा काम किये देता हूँ। आश्रितको बैठा दिया नावपर कि तुम मेरी ओर देखो और मैं नाव खेकर पार करता हूँ। 'तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्'—तुम्हें अपने हाथसे नाव खेनेकी जरूरत नहीं है, मैं तुम्हारी नाव खेता हूँ। इसको साधारण रूपसे लोग नहीं समझते हैं और 'आश्रयण-सौकर्यापादक हो'—अपने पास आनेमें, आश्रय लेनेमें, शरण लेनेमें सहायक हो। शरणागतके प्रति यह कह 'देना कि तुम उनके पास जाओ, उनकी शरण ग्रहण करो और वहीं तुमको शान्ति मिलेगी—तुम स्वयं विचार करके काम करो—उचित नहीं होता है।

आपको पहले सुनाया था कि हम भजन तो करें भगवान्का और माँगें उनसे दूसरी चीज कि 'हे भगवान्, हम तुम्हारी भक्ति करते हैं, हमारे यारकी उम्र बढ़ा दो, हमको धन दे दो, बेटा दे दो, इज्जत, यश, कीर्त्ति दे दो, हुकूमत, ऐश्वर्य दे दो—यह गलत है। भक्ति करें भगवान्की और माँगें दूसरी चीज—यह शरणागति नहीं होती। अच्छा, अब और देखो। भजन किया, तप किया, साढ़े-तीन-करोड़ नाम-जप किया और बोलें—'इसके बदलेमें तुम (भगवान्) हमको मिल जाओ—यानी भगवान्की कीमत बना दी। आपने सुना होगा—नारदजीने एक बार सत्यभामाजीको ऐसी पट्टी पढ़ायी कि उन्होंने श्रीकृष्णका दान कर दिया। जल, अक्षत, फूल हाथमें लेकर सत्यभामाने श्रीकृष्णका हाथ पकड़ा और पूछा—'श्रीकृष्ण मेरे हो न!' कहा—'हाँ हैं।' 'अच्छा, तो मैं तुम्हारा दान

करती हूँ' और कर दिया दान। सब जगह हा-हाकार मच गया—श्रीकृष्णका दान हो गया। अब तो सब रोने लगे। सोलह हजार रानियाँ रोने लगीं, देवकी-वसुदेव रोने लगे, द्वारका-वासी रोने लगे। फिर यह तय हुआ कि श्रीकृष्णका तुलादान किया जाये। सत्यभामा उनके बदलेमें समग्र पृथिवी, त्रिलोकीका राज्य देनेको तैयार हुईं, पर सब बेकार। तराजूके एक पलड़ेमें श्रीकृष्ण बैठे और दूसरे पलड़ेमें उनके बराबर कुछ हो ही नहीं। नारदजीने श्रीकृष्णसे कहा—'उठो, हमारी वीणा कन्धेपर लो और हमारे चेले बनकर हमारे साथ चलो, हमारे पीछे-पीछे चलो'। रुक्मिणीजी यह सब देख रही थीं। उन्होंने झट एक तुलसीका पत्ता लिया और कृष्णका नाम लिखकर तराजूके दूसरे पलड़ेपर रख दिया। नाम और रूपमें तो फर्क होता नहीं। हो गया श्रीकृष्णके बराबर।

तो जब हम भगवान्‌को किसी जप, तप, व्रत, तीर्थ आदिके बदलेमें लेना चाहते हैं कि हम इतना यह करेंगे तो हमें भगवान् मिल जायेंगे—यह भगवान्‌की प्रतिष्ठाके अनुरूप नहीं होता। ब्रह्म कहाँ रहता है? ब्रह्म श्रीकृष्णमें रहता है। साक्षात् ब्रह्म-मूर्ति श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं और तुम उसकी कीमत चुकाना चाहते हो? यह शरणागति नहीं होती। शरणागति वह होती है, जहाँ उपाय भी भगवान्, उपेय भी भगवान्, शरणागति भी भगवान्, शरण्य भी भगवान् होते हैं।

सुना रहा था दूसरी बात और बीचमें और बात सुनाने लगा। तो वापस पहली बातपर आजाता हूँ—शरण उसकी लेनी चाहिए जो सर्वज्ञ हो, सर्वशक्ति हो, परम दयालु हो, आश्रित-कार्य-निर्वाहक हो और आश्रयण-सौकर्यापादक हो। पर शरणागति बिगड़ती कहाँ है? इसका एक-दो उदाहरण बताता हूँ। अयोध्याजीमें राजा दशरथ थे, गुरु वसिष्ठ थे, स्वयं भगवान् रामचन्द्र थे पर, कैकेयीने

मन्थराकी शरण ली। नीचकी शरण हो गयी। अयोग्यकी शरण हो गयी। पर, मन्थराकी शरण लेकर उसने पाया क्या? रामचन्द्र वनमें गये, दशरथ मर गये—स्वयं विधवा हुई, भरतने चौदह वर्ष तपस्या की। अनर्थ हुआ।

दशरथने क्या किया? उन्होंने भी अयोग्यकी शरण ली! आयोध्यामें गुरु वसिष्ठ थे, उनसे सलाह करते कि हम क्या करें श्रीरामचन्द्रसे ही परामर्श कर लेते। कौसल्यासे कर लेते अथवा भरतजीको बुलाकर उनसे सलाह लेते। परन्तु, यह सब कुछ नहीं किया। कैकेयीकी शरणमें हो गये। नतीजा यह हुआ कि उनकी सोची हुई एक भी बात पूरी नहीं हुई। उन्हें मर जाना पड़ा। तो, नीचकी शरणागति कभी सफल नहीं होती है।

अच्छा, और सुनिये! हनुमान्‌जीके कहनेसे श्रीरामचन्द्र सुग्रीवके पास गये और उन्होंने उसकी शरण ली! यह बात आश्चर्यजनक है, परन्तु बाल्मोकि रामायणमें स्पष्ट शरण शब्दका ही प्रयोग किया गया है—सुग्रीव-शरणं गतः। श्रीरामचन्द्रके प्रेमियोंको यह शब्द अच्छा तो नहीं लगेगा, परन्तु बाल्मीकि रामायणमें है कि रावण पर विजय प्राप्त करनेके लिए, रामको एक मित्रकी आवश्यकता थी, इसलिए वे—मित्रसम्प्राप्तिके लिए सुग्रीवके पास गये। परन्तु कहाँ राम और कहाँ सुग्रीव? फिर भी सुग्रीव रामसे विमुख हो गया। हनुमान्‌का सारथित्व भी काम नहीं आया। अन्तमें रामने शेषावतार लक्ष्मणसे, जो प्रलयके समय एक फुफकारसे ही सृष्टि निगलनेको तैयार रहते हैं, कहा—डरा, धमकाकर उसे हमारे पास ले आओ! जब लक्ष्मणने उन्हें भय दिखाया, तब वे रामको शरणमें आये। अब भगवान् सुग्रीवके शरणागत नहीं रहे, सुग्रीव भगवान्‌के शरणगत हो गये। और तब उनका काम बना!

नीच शरणागतिका एक और उदाहरण देखिये। भगवान्‌ने

विभीषणकी सलाह मानकर समुद्रकी शरण ली ! तीन दिनतक भूखे-प्यासे रहकर भगवान् समुद्रसे प्रार्थना करते रहे। पर, 'विनय न मानत जलधि जड़ गये तीन दिन बीति'। काम नहीं बना ! यदि चेतन आत्मा देहके घेरेमें घिरकर रहेगा, जड़की शरण लेगा, अपने मनका कैदी होकर रहेगा, बुद्धिके अधीन होकर रहेगा, अहंकारके परवश होकर काम करेगा, तो यह गलत होगा ! चेतन जड़के अधीन होने योग्य नहीं है। पर, आपको साफ-साफ बात बताता हूँ ! मनुष्य होकर भी आपने हीरा, मोती, सोना, चाँदी, कागजके टुकड़े, मकान, कुर्सी आदिकी शरण ले रक्खी है। यह नीच शरणागति है। यह कभी सफल नहीं होती। इसके लिए उपनिषद्के धनुष पर चढ़ाकर वाण उठाना पड़ता है। समुद्रके लिए भी अन्तमें धनुष-वाण ही उठाना पड़ा ! इसीसे चेतनकी चेतनता निखरती है, स्पष्ट होती है।

जड़ वस्तु, जड़ क्रिया, जड़ भावना, जड़ अन्तःकरण और जड़ अहंकार—सब चेतनके द्वारा प्रकाश्य हैं, दृश्य हैं ! जब आपकी आँख अपनी देखी हुई चीजके साथ चिपक जायेगी तब वह फूट जायेगी। मैंने शब्द तो जरा कड़े कहे और ईश्वरकी कृपासे अभी तक आपकी आँख किसीके साथ चिपककर गयी नहीं है। यदि किसीकी शक्ल-सूरत देखकर आपकी आँख उसमें चिपक जायेगी, तो आँख आँख नहीं रहेगी, आप बिल्कुल अन्धे हो जायेंगे। तो शरणागति किसकी होनी चाहिए ? जो सर्वोत्तम है, सर्वोत्कृष्ट है—उसकी।

भगवान्ने कहा—भाई, बात तो बहुत गुप्त है सबसे छिपाने लायक है। सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः—यह बात जो मैं कहने जा रहा हूँ—आखिरी बात है। परमंका अर्थ है—आखिरी और वचःका अर्थ है बात। परमं वचः माने आखिरी बात। निरुत्तर, लाजबाब। इसके बाद फिर कुछ बोलना मत। 'अबतक

क्यों नहीं बताया ?' अबतक इसलिए नहीं बताया कि सर्व-गुह्यतमम्—सब गोपनोयोंसे गोपनीय है और सबसे गुप्त रखने योग्य है। 'तूं मेरी शरणमें आजा'—यह किसी आमूली-मामूली आदमीसे तो बोला नहीं जाता। बहुत विश्वसनीय हो तो ही बोला जा सकता है और तभी जिम्मेवारी भी ली जाती है! और जो वकीलोंके चक्करमें है, यार-प्यारके चक्करमें है, संकल्पोंके चक्करमें है, विचारोंके चक्करमें है, अपनी मान्यताओंके चक्करमें है, अपने अहंकी पूजामें लगे हुए हैं, उनको—'तू मेरी शरणमें आजा' नहीं कहा जा सकता!

हम जितनी भी पूजा करते हैं, सब घूम-फिरकर अपनी ही पूजा होती है! आपको हम एक बात सुनाते हैं—महात्मा गान्धीका जब देहान्त हुआ, तब हम जबलपुरमें थे! रेडियो पर ही हमने उनके देहान्तका समाचार सुना! बहुत दुःख हुआ! हमारी धार्मिक सभा शोक-सभामें बदल गयी! सबने श्रद्धांजलि दी! दूसरे दिन खण्डवासे छपे एक अखबारमें हमने गान्धीजीके सम्बन्धमें पूरे एक पन्नेकी कविता पढ़ी! शोक-संवेदनाकी बहुत ही बढ़िया कविता थी। पर, उसको पढ़कर हमारा दिमाग उलट गया। कभी-कभी खोपड़ी उल्टी हो जाती है! मैंने सोचा जिस कविने, गान्धीजीकी मृत्यु पर यह कविता लिखी है, उसको यह कविता लिखकर सुख मिला होगा कि दुःख हुआ होगा। उसे तो गौरवका अनुभव हुआ होगा कि मैंने गान्धीजी के बारेमें इतनी उत्तम, इतनी श्रेष्ठ कविता लिखी है! वह गान्धीजी पर श्रद्धापुष्प या श्रद्धांजलि नहीं चढ़ा रहा था, बल्कि वह अपनी उत्तम कविताका सुख अनुभव कर रहा था। तो, यह जो अहंकी पूजा है, वह ब्रह्मज्ञानके पहले छूटती-मिटती नहीं है। जब तक आप अपने आपको अद्वितीय परब्रह्म परमात्माके रूपमें साक्षात् अपरोक्ष अनुभव नहीं कर लेंगे, तबतक आप ईश्वरको भी अपना सेवक बनाकर ही रखनेका विचार रक्खेंगे, कि यह हमारे मनके

अनुसार काम करे। जो हमारी बुद्धि ठीक समझती है, सो ही ईश्वरको करना चाहिए। आज गर्मी डालनी चाहिए; आज ठण्ड डालनी चाहिए! आज वर्षा करनी चाहिए! वह तो ईश्वर आपसे जरा छिप गया, नहीं तो सलाह देते-देते ही आप ईश्वरका कान खा जाते!

शरणागतिमें मुख्यतः अहम्‌का समर्पण है, परन्तु एकाङ्गी समर्पण नहीं, भगवान्‌के द्वारा स्वीकृत समर्पण। समर्पणमें तो 'अहं' रहता है—हमने यह दिया, यह दिया, यह दिया। अरे! कुछ नहीं दिया। सब दी जानेवाली चीजसे बड़ा होता है—देनेवाला। जब देकर देनेवाला अलग रह गया तो दिया क्या? वह तो अपने पास रक्खी हुई चीज—जो कहींसे आयी थी और कहीं जानेवाली थी—उठाकर दे दी—तो दिया क्या? बहती हुई नदीमें-से अपनी अँगुलीसे एक बूँद पानी लेकर तुम्हारी ओर फेंक दिया और कह दिया कि मैंने तुम्हारी पूजा कर ली। तो बड़े-बड़े दान-दाता लोग-बुरा मत मानना—जब हम बोलने लगते हैं तब ऐसे ही बोल देते हैं। करते हैं—अपने 'अहं'की पूजा और कहते हैं—देते हैं, देते हैं, देते हैं। अपने अहंकी पूजामें गुरुको चढ़ाते हैं। अपने अहंकी पूजामें ईश्वरको चढ़ाते हैं।

भगवान्‌ने फिर कहा—'यह बहुत गुह्यतम, सबसे छिपाने लायक व आखिरी बात है'। अर्जुनने कहा—'ओ हो, आप तो हद कर रहे हैं। ऐसी बात हमको बताने जा रहे हैं?' 'हाँ, अर्जुन, हम तुमको ऐसी बात बताने जा रहे हैं—

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्

'भक्तोसि मे सखा'—तुम मेरे भक्त हो, तुम मेरे सखा हो—पहले कह चुके हैं और अब कह रहे हैं—'इष्टोऽसि मे दृढमिति'—अर्जुन

भक्त हैं। अर्जुन कहते हैं—'शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'—अर्जुन भक्त हैं और सखा हैं? सो कैसे?

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।

× × ×

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।

ये सखा हैं। सखा ही ऐसी बात करते हैं। सखा-सहैव ख्यायते। जिसका नाम भगवान्के नामके साथ जुड़ जाये—श्रीकृष्ण-अर्जुन, कृष्ण-उद्धव, राम-लक्ष्मण, श्याम-बलराम। ख्यायते इति—जिसकी ख्याति एक साथ होवे—उसका नाम होता है—सखा। सखा तो बहुत पहले ही कह दिया था, इस बार तो हद कर दी। आप देखें—भगवान् कह रहे हैं—'इष्टोऽसि मे दृढमति—तुम मेरे इष्ट हो' इष्ट शब्दका अर्थ आप जानते ही होंगे, आपके घरमें कोई-न-कोई इष्ट जरूर होंगे? इष्ट माने जिसकी पूजा की जाती है, जिसका यजन किया जाता है, जिसको चाहा जाता है। इष्ट शब्दके दो अर्थ होते हैं—जिसके लिए हम सब कुछ बलि देनेके लिए तैयार हैं—उसका नाम इष्ट और जिसको हम सर्वात्मना चाहते हैं—उसका नाम इष्ट। श्रीकृष्ण कहते हैं 'अर्जुन, दुनिया मुझको इष्ट मानती है और मैं तुमको अपना इष्ट मानता हूँ'। फिर पूछते हैं—'तुमको याद होगा?' 'क्या याद होगा?' 'बलरामजीसे छिपाकर, विरुद्ध होकर और बदनामी उठाकर मैंने अपनी बहन सुभद्राको तुम्हारे साथ भगा दिया था। तुम मेरे इष्ट हो!' अद्भुत है।

'आकाश चाहे फटकर गिर जाये और हिमाचल चाहे टुकड़ा-टुकड़ा हो जाये और समुद्र चाहे सूख जाये, परन्तु, मैं जो कहता हूँ—वह कभी मिथ्या नहीं होगा—

यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु।

अर्जुन, जो तुमसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारे पीछे चलता है, वह मेरे पीछे चलता है। अर्जुन, मैंने अपने

जीवनमें दृढ़ताके साथ तुम्हारी आराधना की है। तुम्हारा भजन किया है। तुमसे प्यार किया है। तुमको चाहा है। 'ततो वक्ष्यामि ते हितम्'—इसलिए अर्जुन, तुम दुःखी मत होओ। विषादग्रस्त मत होओ। मैं तुम्हें दुःखी नहीं देख सकता। तुम अपनी बुद्धिसे नहीं सोचना चाहते हो ?' 'नहीं। पहले ही मैंने कह दिया—धर्मसम्मूढ़चेताः—हम अपनी बुद्धिसे नहीं सोचना चाहते हैं।' 'दूसरेके पास नहीं जाना चाहते हो ?' 'नहीं-नहीं बाबा, मैं और किसीके पास नहीं जाना चाहता हूँ। पूछने जानेका तो प्रश्न ही नहीं उठता है।' 'अच्छा ! ऐसा है ? तो मैं तुम्हें तुम्हारे हितकी बात सुनाता हूँ। इसीमें तुम्हारा हित है—'ततो वक्ष्यामि ते हितम्।' भगवान्ने सब साधनोंको इकट्ठा करके एक साथ कर दिया। सारी गीतामें जितनी साधनाओंका वर्णन है, सबको इकट्ठा कर दिया और अब—'तमेव शरणं गच्छ' वाली बात बिल्कुल काट दी। सच पूछो तो 'मामेकं शरणं व्रज' कहनेसे अन्यकी शरणागति कट जाती है और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'से सारीकी सारी साधनाएँ कट जाती हैं।

हम लोग गीताकी चाहे जितनी लम्बी-चौड़ी व्याख्या करें—'अशोच्यानन्व'से 'लेकर यथेच्छसि तथा कुरु'—तक—जितनी लम्बी-चौड़ी टीका करें, भाष्य करें—भगवान्ने तो स्वयं अपनी कही बातका विरोध कर दिया—'तमेव शरणं गच्छ' कहकर, 'मामेकं शरणं व्रज' और 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' कहकर 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' कह दिया। मैंने कुरानशरीफमें पढ़ा था कि खुदाने मुहम्मद साहबके पास जो आयतें लिखकर भेजी थीं, उसमें लिखकर भेजा था कि अबतक हमने जितने पैगम्बर और उनके द्वारा जितना पैगाम भेजा है, सन्देश भेजा है—सब मैंने काट दिया। अब जो मैं कह रहा हूँ, वही सच है। यह भी कह दिया कि अब आगे न

कोई पैगम्बर होगा और न कोई पैगाम होगा! अद्भुत बात है! अपनी कही हुई साधना और अपने ही बताये हुए साध्य—सबका निषेध।

कुछ दिन पहले बम्बईके भारतीय विद्या-भवनमें महा-महोपाध्याय पण्डित अनन्तकृष्ण शास्त्री कलकत्ता विश्वविद्यालयमें संस्कृतके अध्यापकका व्याख्यान हुआ था। बहुत ही दिलचस्प था। उन्होंने बताया कि जितना वेद, पुराण, इतिहास, दर्शन—जो कुछ शब्दके द्वारा प्रतिपाद्य तत्त्व है, वह 'इति' शब्दकी व्याख्या है और 'नेति-नेति' जो श्रुतिका शब्द है—वह सबका निषेध कर देता है। इति न, इति न, इति।

श्रीकृष्णका निषेध वाक्य है—'सर्वधर्मान् परित्यज्य' और विधि-वाक्य है—'मामेकं शरणं व्रज।' इसके लिए सर्व-साधनाओंको समेटनेवाले—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

इस श्लोकका पहला हिस्सा दो बार गीतामें है। 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'—नवें अध्यायमें भी है और अठारहवें अध्यायमें भी है।

श्रीकृष्णने कहा—'देखो, मैं चार बात तुमको बताता हूँ। इनको जानकर तुम निश्चित रूपसे मेरे पास आ जाओगे। 'मामेवैष्यसि'—मेरे पास आ जाओगे, मुझसे मिल जाओगे। मेरे पास आनेका अर्थ है, 'मुझसे एक हो जाओगे।' अर्जुनने कहा—'बाबा, तुम्हारी बातका क्या भरोसा? अभीतक इतने विस्तारसे सब बता रहे थे और अब सबको तुम्हींने 'कैन्सिल' कर दिया।' तो बोले—'सत्यं ते प्रतिजाने'—'मैं सत्य शपथ खाकर तुमसे कहता

हूँ।' 'अरे बाबा, व्रजमें कहीं सत्य शपथ होती है? वहाँ तो 'तेरी सौं, मेरी सौं' बोलते ही रहते हैं और फिर तुम जैसे सत्यवादी हो—यह भी मैं जानता हूँ। मैयाने पूछा—माटी खायी, तो कह दिया—मैंने माटी नहीं खायी। खाते हो और कहते हो कि नहीं खाता हूँ। गोपालतापनीय-उपनिषद्में कह दिया—मैं भोगता ही नहीं हूँ। भोगते हुए दीखते हो और कहते हो कि मैं भोगता नहीं हूँ। सो तुम्हारी बातका क्या ठीक?' श्रीकृष्ण बोले—'कोई पराया हो तो बात दूसरी होती है। तुम तो अपने हो! मेरे प्यारे हो—'प्रियोसि मे।' तुमसे मैं झूठ नहीं बोल सकता। अपने प्यारेसे कोई झूठ नहीं बोल सकता—गुरुसे कपट, मित्रसे चोरी की हो निर्धन की हो कोढ़ी। मैं सच-सच बोलता हूँ।' 'अच्छा बोलो, क्या बोलते हो?'

भागवतमें इन्हीं श्लोकोंकी—व्याख्या ग्यारहवें स्कन्धमें है। मैंने जिन धर्मोंके अनुष्ठानका आदेश किया, उन सब धर्मोंका परित्याग करके जो मेरी शरणमें आजाता है, वह श्रेष्ठ है, उद्धवसे ऐसे कह दिया—

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य

सब छोड़ दो। प्रवृत्ति-धर्म छोड़ो, निवृत्ति-धर्म छोड़ो, विधि छोड़ो, निषेध छोड़ो, जो सुना है सो छोड़ो, जो सुनना बाकी है सो छोड़ो—'मामेकमेव शरणं'—न तो तुम्हें अपनी बुद्धिसे विचार करनेकी जरूरत है, न तो दूसरे किसीकी शरणमें जानेकी जरूरत है। आवो 'मामेकमेव शरणं'—भागवतमें यह गीताकी व्याख्या है। अब 'मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी' और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'की व्याख्या आपको फिर सुनावेंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः!

प्रवचन–४

भगवान्‌की पूजा, उपासना, भक्ति, समर्पण और शरणागति। समर्पणमें वस्तुका समर्पण—पत्रं, पुष्पं, फलं; क्रियाका समर्पण—यत्करोषि; भोगका समर्पण—यदश्नासि; धर्मका समर्पण—यद्‌जुहोषि ददासि और तपस्याका समर्पण—यत् तपस्यसि। पर एक ऐसी सूक्ष्म वस्तु है, जो पूजामें तो रहती ही है, उपासनामें भी रहती है, भक्तिमें प्रयोज्य-रूपसे शेष रहती है और समर्पणमें समर्पकके रूपमें शेष रहती है—समर्पण करनेवाला। चीज दी गयी सो दी गयी, पर देनेवाला रह गया। बलिने लोक-परलोक दोनों समर्पित किया, पर उसका अहं शेष रह गया। इसी तरह हमलोग जितना साधन-भजन करते हैं, वह सब लौटकर हमारे पास ही आजाता है और हमारे 'अहं'की पूजा हो जाती है। परिवारके लोग हमारे मनकी ही करें, राज्य भी हमारे मनसे चले, ईश्वर भी हमारे मनके अनुसार करे—हमारी सारी साधना ईश्वरकी पूजाके स्थान पर, हमारे अहंकी पूजाका स्थान ले लेती है। ऐसे-में वह निर्दोष स्थिति जिसमें व्यक्तिगत सुख और स्वार्थकी गन्ध भी न हो—कैसे बने? संसारी लोग कह देंगे कि ऐसी निःस्वार्थ स्थिति होती ही नहीं है और साधक लोग कहेंगे कि इसमें कोई दूसरा करनेवाला ही नहीं है, उसने क्या किया? भगवान्‌ने शरणागतिकी चर्चा की।

भगवान्‌का एक नाम शरण है और दूसरा जो शरण-भाव है सो। अर्थात् एक—शरण-रूप भगवान् और दूसरा शरणागतिका भाव।

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

माने उपाय और उपेय, साधन और साध्य दोनों वे ही हैं। वे ही उनको मिलते हैं। वही मिलनेवाले और वही मिलानेवाले।

भगवान्‌ने 'सर्वगुह्यतमं' बात कहनेकी प्रतिज्ञा की। 'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।' आप जानते होंगे—'सुने री मैंने निर्बलके बल राम'—जहाँ अपना बल नहीं होता है, वहाँ सच्ची शरणागति होती है और जहाँ अपना बल आगे आजाता है, वहाँ शरणागति होती ही नहीं है। महात्मा लोग इस तत्त्वको जानते हैं। उनके जोवनमें एक लाभ यह है कि उनको कोई धोखा नहीं दे सकता। वे यह जानते हैं कि आदमी करता तो है अपने 'अहं'की पूजा वताता है 'आपकी पूजा', पर अपनी उदारताके कारण इसे वे अपनी पूजा मान लेते हैं। वे समझते हैं कि यदि आप अपनी पूजा करते हैं, तो भी उनकी ही पूजा करते हैं, क्योंकि आपकी आत्मा भी वही है जो उनकी आत्मा है। तो चाहे आप अपनी पूजा करो और चाहे उनकी, बात तो एक ही है। भगवान् तो एक ही हैं।

भगवान्‌की ओर चलनेके लिए भगवान्‌ने चार बातें बतायीं। यह भी बताया कि इन धर्मोंका पालन करनेसे हम भगवान्‌के पास पहुँच जायेंगे। उसमें क्रम भी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

चौथेको सबसे अलग कर दिया; क्योंकि 'भव' क्रियाका अन्वय मद्याजी भव तक होता है। नमस्कुरुके साथ भव क्रियापदका अन्वय नहीं होता। श्रीधर स्वामीने इस सम्बन्धमें एक प्रश्न उठाया कि जब अन्तमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' बोलना ही है, तो पहले ही क्यों नहीं बोल देते! इतना बखेड़ा फैलानेकी आवश्यकता ही क्या है? इसपर उन्होंने एक दृष्टान्त दिया—एक बार चार

आदमी कहीं जङ्गलमें गये। वहाँ सबने मिलकर निश्चय किया कि खिचड़ी पकाकर खायी जाये। एकसे कहा गया कि वह इधर-उधरसे लकड़ी बटोरकर ले आये; दूसरेसे कहा गया कि वह गाँवमें जाकर दाल-चावल, हँड़िया आदि ले आये; तीसरेसे कहा गया कि वह कुएँसे पानी ले आये और चौथेसे कहा गया कि वह सब बातका ध्यान रक्खे और अन्तमें आग अवश्य बुझा दे। नहीं तो जङ्गलका काम है, कहीं यदि आग फैल गयी, तो दूसरे प्राणियोंकी हत्या भी होगी और हम भी उसमें जल सकते हैं। इसलिए अन्तमें आग बुझाना परमावश्यक है, इसका ध्यान रक्खे। उसने कहा कि जब अन्तमें आग बुझानी ही है, तो आग जलायी ही क्यों जाये? लकड़ी लायी जाये, सो ठीक; दाल-चावल-हँड़िया लाया जाये, सो ठीक; पानी लाया जाये, वह भी ठीक, पर आग जब अन्तमें बुझानी ही है, तब आग जलायी ही क्यों जाये? अब देखो, यदि आग जलायी नहीं जायेगी तो खिचड़ी ही नहीं पकेगी और खिचड़ी नहीं पकेगी तो लोग खायेंगे क्या? तो पहले लकड़ी, हँड़िया, दाल-चावल, पानी ले आओ, आग जलाओ, खिचड़ी पका लो और उसके बाद आग बुझा दो। खिचड़ी पकानेके बाद ही तो आग बुझानेको कहते हैं। तो यदि पहले ही बोलोगे कि जब आग बुझानी ही है तो जलानेकी जरूरत ही क्या है और जब सर्व-धर्मका परित्याग करना ही है, तो सब धर्म करनेकी जरूरत ही क्या है—तो यह कुतर्क है। पहले सारी तैयारी करके खिचड़ी पकाके भोजन कर लो और जब भोजन हो जाये, तृप्ति हो जाये, तब जलायी हुई आग बुझा दो। यह कर्त्तव्य है। नदीसे पार होनेके पहले ही अगर नाव छोड़ दोगे तो पार कैसे उतरोगे? इसलिए—'सर्वधर्मान् परित्यज्य'के पहले धर्म भी होना चाहिए।

अब देखना है कि धर्म क्या है? पहली बात बतायी—

मन्मनाभव। मयि मनो यस्य स मन्मना। पण्डित लोग इसका अर्थ यों करते हैं—अहमेव मनो यस्य—जिसका मन मैं ही हूँ। इसका अर्थ है कि मन नामकी कोई मूर्त्त वस्तु नहीं है।

बाहर 'इदं मनः अस्ति'—ऐसा कहनेके लिए मन कभी दृश्य नहीं होता अन्तरमें भी 'इदं मनः' कहनेके लिए भी दृश्य नहीं होता। अस्ति प्रत्ययका विषय मन स्वयंमें नहीं होता है। जब वह किसी विषयका आकार ग्रहण करता है अथवा प्रतियोगी-सापेक्ष अभावका आकार ग्रहण करता है, तभी इदं मनः—अभावाकार वृत्ति हो चाहे भावाकार वृत्ति हो, तब यह मन है, ऐसा ग्रहण होता है। आप कहेंगे कि बात टेढ़ी हो गयी। मन अर्थका भासना ही मन है। बल्कि हमारे महात्मा शंकरानन्दने कहा कि मन ही माया है। माया, माया, माया—जो ग्रन्थोंमें लिखा हुआ आता है, वह अपना मन ही है। मन कोई दूसरा नहीं है। अपना मन ही दुनियामें मेरा-तेरा, न मेरा, न तेरा, यह सब फैलाता है। फिर एक दिन बोले कि देखो, मन नामकी जो चीज है, यह कोई दूसरी नहीं है, जब चेतन सविषयक होता है, अर्थात् जब चेतन किसी चीजको देखता है, तब चेतनका ही नाम मन हो जाता है और जब मन निर्विषयक होता है, तब मनका ही नाम चेतन हो जाता है। सविषयक चेतनका नाम मन और निर्विषयक मनका नाम चेतन। अहमेव मनो यस्य स मन्मनाः। जब परमात्मासे अलग मन मालूम ही न पड़े, तब उसको मन्मनाः कहते हैं।

हमने अपने मनकी ओर देखा—यह जाननेको कि मन क्या है? कहाँ है मन? यह मन-मन लोग बोलते ही हैं, कभी देखते थोड़े ही हैं कि क्या है? कभी स्त्री बन गया, कभी पुरुष बन गया, कभी मोती बन गया और कभी हीरा बन गया। तो तत्-तत् आकार धारण करके ही मन प्रतीत होता है, मन मालूम पड़ता है।

यदि कोई आकार मनमें न हो तो मन अपनेसे अलग, आत्मासे अलग, परमात्मासे अलग होवे ही नहीं। मन निराकार रहे तो परमात्मा है। और इसीको शुद्ध ज्ञान बोलते हैं। मनु अवबोधने धातुसे अवबोधके अर्थमें मन शब्द बनता है। तो जहाँ परमात्मा और ज्ञान दोनों अलग-अलग नहीं हैं—एक हैं—वहाँ हो गया—'मन्मनाः'।

फिर बोले कि यह तो जरा कठिन है। हाँ भई, व्यापारियोंको व्यापारकी बात सुनायेंगे तो कठिन नहीं लगेगी; वकीलको कानूनकी बात सुनावेंगे तो कठिन नहीं लगेगी; डाक्टरको रोगकी, दवाकी बात सुनावेंगे तो कठिन नहीं लगेगी—वह आपका विषय है ना? आप अपने विषयमें 'एक्सपर्ट' हो तो हम अपने विषयमें 'एक्सपर्ट' हैं। जिस तरह आपकी बात हम आसानीसे नहीं समझ सकते, उसी तरह हमारी बात भी आपके लिए कुछ कठिन तो होगी ही होगी। यह दावा मत कीजिये कि आप सब समझते हैं। 'अच्छा, यह ज्ञान तो कठिन है।' 'हाँ, कठिन है।' 'तब, हमारे लिए?' बोले कि 'मद्भक्तो भव'। मम भक्तो मद्-भक्तः। मेरे भक्त हो जाओ। भक्त माने प्रीति-विशिष्ट वृत्तिके द्वारा मुझे देखो।' वैसे तो दुश्मन भी वृत्तिके द्वारा ही देखा जाता है और मित्र भी वृत्तिके ही द्वारा देखा जाता है। परन्तु भगवान्‌को प्रीति-विशिष्ट वृत्तिसे देखना चाहिए। असलमें विशिष्ट, सगुण जो भगवान् हैं, वे सविशेष वृत्तिके विषय होते हैं और निर्गुण जो भगवान् हैं, वे निर्विशेष वृत्तिके विषय हो जाते हैं। अपने चित्तकी वृत्तिमें प्रेमका रस घोल लो और फिर निरन्तर उससे भगवान्‌का सेवन करो।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।

यह भक्तियोगका लक्षण है। इस भक्तियोगको प्राकृत गुणोंसे रहित

होनेके कारण निर्गुण कहते हैं। बस, जैसे गङ्गाजीकी धारा—'यथा गङ्गाम्बुधौ' गङ्गासागरमें, समुद्रमें गिरती रहती है, गिरती रहती है, गिरती रहती है—वैसे ही हमारा गला हुआ मन, चित्त—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भक्ति रसायनमें भक्तिका लक्षण बताया कि भागवत-धर्मको धारण करते-करते जब चित्त मोह-ममताकी कठोरता छोड़ देता है और द्रवित हो जाता है, द्रुत हो जाता है और वृत्ति-धारा प्रवाहित-रूपसे परमेश्वरमें गिरने लगती है, तब उस वृत्तिका नाम 'भक्ति' होता है। बोले, बाबा यह तो अनायास साध्य नहीं मालूम पड़ती। आसान बात नहीं लगती है। क्योंकि अन्तः बहुत सूक्ष्म है और सूक्ष्मतममें प्रवेश करके, अपने अन्तर्देशमें प्रवेश करके और निरन्तर वृत्तिके द्वारा भगवान्‌का स्पर्श करना—वृत्तिको यदि त्वाच्-प्रत्यय होता हो, त्वाच-प्रत्यय माने टच' करना-यदि वृत्ति किसीको बार-बार 'टच' करती हो, छूती हो तो, जैसे हम कूँची हाथमें लेकर कोई चित्र बनाते हैं—ऐसे ही यदि कोई भगवान्‌का चित्र बनाता हो—दिलमें। कागज पर बनानेवाला भगत होता है कि नहीं ? नहीं मालूम। चालीस-पैंतालीस वर्ष पहलेकी बात है—गीता-प्रेसवाले जिससे चित्र बनवाते—वह एक चित्र बनानेका बारह रुपया लेता था और फिर उन रुपयोंसे जाकर शराब पी लेता। उसकी पत्नी व बच्चे भाईजीके पास आकर रोते। तो चित्र बनाना एक कला है। पर जब हम अपने अन्तरमें, अपने हृदयमें चित्र बनाते हैं और बड़े प्रेमसे बनाते हैं—तब हमारी वृत्ति बार-बार भगवान्‌को प्रेमसे 'टच' करती है और इसको कहते हैं—'मद्भक्तो भव।'

अर्जुनने कहा—'यह भी बहुत मुश्किल है।' श्रीकृष्णने कहा—'अच्छा भाई, मद्याजी भव—मेरे उद्देश्यसे भजन करो। मेरे लिए

शास्त्रमें जैसी विधि है, उस विधिके अनुसार धर्मका अनुष्ठान करो, अपने मनके अनुसार नहीं !' एक बात हम आपको सुनाते हैं— अपने मनके अनुसार किया हुआ बड़ा-से-बड़ा पुण्य भी अहंकारकी वृद्धिमें हेतु होता है और शास्त्र, सदगुरुकी आज्ञासे किया हुआ साधारण कर्म भी, अनुशिष्ट होनेके कारण धर्म हो जाता है ! धर्मके साथ अनुशासन लगा हुआ है और वह आपकी वासनाकी निवृत्ति करता है। आप जो वासनानुमारी कर्म करते हैं, उसका नाम धर्म नहीं होता। जो कर्म शासनानुसार, शास्त्रानुसार—आचार्य, सद्गुरु, भगवान्, शास्त्रके आदेशानुसार किया जाता है, उसका नाम धर्म होता है। उसमें अपना कर्त्तृत्व गौण हो जाता है और जो काम अपने मनसे किया जाता है, वह अपने मनका हौसला, अपना 'अहं' बढ़ा देता है। आज मन अच्छा काम करा रहा है, कल मन बुरा काम करा देगा। यह बात तो प्रसङ्गवश ऐसे ही आपको सुना दी मैंने।

धर्ममें उद्देश्य होना चाहिए भगवान्—तब धर्म भक्ति हो जाता है और भक्तिमें तदाकार वृत्तिका प्रवाह होना चाहिए। वृत्ति-प्रवाह ! भगवान्के उद्देश्यसे किये हुए कर्मका नाम धर्म है और भगवान्को विषय करनेवाली वृत्तिका नाम भक्ति है और स्व-स्वरूपका भगवत्स्वरूपसे एक हो जानेका नाम स्वरूपावस्था है। यदि हमारा आत्मा परमात्मासे एक नहीं होगा, परिच्छिन्न, कटा-पिटा रह जायेगा और परमात्मा यदि इससे एक नहीं होगा तो वह अचेतन रह जायेगा, दृश्य रह जायेगा, कल्पित रह जायेगा।

अर्जुनने फिर कहा—'मन्मना भव, मद्भक्तो भव, मद्याजी भव—ये तीनों बहुत मुश्किल हैं।' भगवान्ने कहा—'अच्छा, मुश्किलसे बचना चाहते हो ?' असलमें यदि अपना लक्ष्य उत्तम हो तो आदमी मुश्किल, कठिनसे बचना नहीं चाहता है। कठिनसे

कठिन काम भी वह करना चाहता है, करता है—यदि उससे हमारे लक्ष्यकी प्राप्ति होती हो तो। भागवतमें दृष्टान्त दिया कि बनियें लोग धन कमानेके लिए बहुत ही कठिन काम करते हैं—पहाड़ लाँघते हैं, समुद्र पार करते हैं, आसमानमें उड़ते हैं—क्योंकि उनको धन प्राप्त करना है। भागवतमें—तस्करो वणिक्—दोनों शब्द एक साथ ही हैं। एक तस्कर, दूसरा बनिया—दोनों—धनकी प्राप्तिके लिए अपने आपको बड़े-से-बड़े संकटमें भी डालनेसे नहीं डरते हैं और आप? आप भगवत्-प्राप्तिके कठिन होनेसे डरते हैं? इससे पता चलता है कि अभी आपकी इच्छा बहुत ही निर्बल है, कमजोर है और जब आपमें इच्छा ही नहीं है, तब लालसा, उत्कण्ठा, व्याकुलता व उसके लिए सर्वस्त्यागकी तैयारी कहाँसे होगी? कैसे होगी? आप ईश्वरको पाना चाहते हैं और कठिन कामसे डरते हैं? इतनी बड़ी चीज पाना चाहते हैं और कुछ करना नहीं चाहते?

पिघल गये भगवान् और करुणासे द्रुत होकर, द्रवित होकर सोचने लगे—मुझे चाहता है, परन्तु कठिन काम नहीं करना चाहता, तो इसके लिए थोड़ी आसानी कर देनी चाहिए। बोले—'अच्छा भाई, एक काम कर! नमस्कुरु—मुझे नमस्कार किया कर!' मनस्कुरु नहीं है, नमस्कुरु है। योगवासिष्ठमें दोनों ही शब्द आते हैं—मनस्कार ओर नमस्कार। मनस्कार न हो सके तो नमस्कार करो! नमस्कुरु! अब नमस्कुरुमें किसीने कहा कि वह तो साष्टाङ्ग दण्डवत् करके—धरतीपर लेटकर किया जाता है। दक्षिणमें तो ऐसी प्रथा ही है कि बड़ा-से-बड़ा व्यक्ति भी—चाहे चीफ जस्टिस हो, चाहे राज्यपाल हो, और चाहे बड़ा भारी विद्वान् हो—सब साष्टाङ्ग दण्डवत् ही करते हैं!

एक बार मैंने किसी डाक्टरसे कहा कि हमारा हाथ जितना

उठना चाहिए उतना नहीं उठता है। इस पर उसने कहा—'स्वामीजी, आप किसीको साष्टाङ्ग दण्डवत् नहीं करते होंगे ? यदि साष्टाङ्ग दण्डवत् करते होते तो आपको पता लग जाता कि आपका हाथ पूरा नहीं उठता है और आप पहले इसकी चिकित्सा करा लेते। उसने तो हमें बहुत गड़बड़में डालना चाहा, पर हमको एक माता मिल गयीं। उन्होंने हमसे कहा कि स्वामीजी, आप इसको सिर्फ उठाया कीजिये, पीछे ले जाइये, आगे ले जाइये—७-८ महीने लगेंगे, पर ठीक हो जायेगा। सचमुच ठीक हो गया। कुछ दवा नहीं करनी पड़ी! तो साष्टाङ्ग दण्डवत् भी बहुत उपयोगी होता है!

तो बोले—'भाई, साष्टाङ्गमें तो सिर चाहिए, छाती चाहिए, हाथ चाहिए—आठ अङ्ग लगाने पड़ते हैं—यह भी बहुत कठिन है।' बोले—'अच्छा भाई, दोनों हाथ जोड़ लो। नमस्कुरु—यह तो बहुत सुगम है।' आजकल सभ्य-समाजमें हाथ जोड़ना भी बहुत अच्छा नहीं माना जाता है। भगवान् बोले—'तुम्हें कुछ करने-वरनेकी जरूरत नहीं है। तुम सिर्फ मुँहसे बोल दो—'नमस्कार!' नमस्कुरु! पर वैष्णव लोगोंने नमस्कारका भी बड़ा गम्भीर अर्थ किया है। पाञ्चरात्र-संहितामें बताया कि 'न मे इति नमः'—मेरो नहीं है। दुनियाकी कोई चीज मेरी नहीं है, कोई क्रिया मेरो नहीं है, मैं भी मेरा नहीं हूँ, मैं भी तुम्हारा ही हूँ—नमःका अर्थ किया! वैसे व्याकरणमें तो 'नमनं नमः' होता है। झुकनेका नाम 'नमः' है। मुसलमान लोग नमाज पढ़ते समय बार-बार झुकते हैं। नमस्, नमस्, नमस्। नमस्, नमसी, नमांसि—बार-बार झुकते हैं। भगवान्के सामने अपने 'मैं'को छोड़कर झुकना ही नमस्कार है। 'प्रणाम' शब्दका अर्थ भी उन्होंने वैसा ही किया है। नमयति नामयति वा भगवन्तम् इति प्रणाम—जिसमे भक्त झुक जाता है और भक्तके झुकते ही—'ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव

भजाम्यहम्'—भगवान् भी झुक जाते हैं!' 'मामेवैष्यसि—मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम मेरे पास आवोगे।' अर्जुनने कहा—'बड़े प्रतिज्ञा-पालक बनते हो, भीष्मके सामने तुम्हारी प्रतिज्ञा कहाँ चली गयी थी ?' बोले—'सत्यं ते प्रतिजाने—सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ।' बोले—'बाबा, गोपियोंसे कह दिया कि कभी मैंने झूठ नहीं बोला; मैयासे कह दिया कि 'सर्वे मिथ्याभिशंसिनः'—मैंने माटी नहीं खायी। अतः तुम्हारा क्या भरोसा ?' 'देखो, तुम मेरे प्रिय हो और तुम्हारे प्रेमकी शपथ खाकर मैं कहता हूँ कि नमस्कुरु। केवल नमस्, नमस्, नमस्। अपने अहंकारको नम्र कर दो और भगवान्के सामने झुक जाओ और उनको प्राप्त कर लो।'

अब शरणागतिकी थोड़ी सरल-सरल बात सुना देते हैं। अभ्यासमें सरलता है और अभ्यास न होनेसे कठिनता है। वैसे यह भी सरल ही है। शरणागतिमें विशेषता यह है कि जो शरणमें आता है, उसके गुण-दोषको नहीं देखा जाता है कि यह कैसा है ? बस; हमारे सामने आया है न। लंकामें विभीषणको हनुमान्जीने भगवान्का गुणगण सुनाया। उससे विभीषणके मनमें जो असम्भावना थी कि उसको नहीं स्वीकारेंगे, संशय था कि स्वीकार करेंगे कि नहीं करेंगे और विपरीत भावना भी थी कि नहीं ही करेंगे—सब दूर हो गयी। थोड़ी देरकी सत्सङ्गतिसे ही विभीषणके मनकी असम्भावना, संशय व विपरीत भावनाका नाश हो गया और विभीषण रामचन्द्रके सामने आगये। आ तो गये पर नीचे न उतरें। शरणागतिमें नीचे उतरना भी आवश्यक होता है। ऊपर बैठकर शरणागत नहीं हुआ जाता। पर विभीषण ऊपरसे ही अपना परिचय देने लगे—'मैं रावणका भाई हूँ। आपकी शरणमे आया हूँ।'

विभीषण ऊपर टँगे हुए थे और नीचे जुड़ गयी सभा। सुग्रीवजी आगये। हनुमानजी आगये। दूसरे वानर भी इकट्ठे

हो गये। सब सोचने लगे—क्या करना चाहिए। सुग्रीवजीने कहा—'शत्रुका भाई है, हम लोगोंके बीचमें आवेगा, हमारा भेद लेगा और अपने भाईको बतावेगा। बहुत हानिकारक है। हमारी रायमें इसे बाँधकर रख लिया जाये। भगवान्‌को बात पूरी जँची नहीं। जँची नहीं तो हनुमानजीकी ओर देखने लगे। 'हनुमान, तुम्हारी क्या राय है ?' हनुमानजी बोले—'प्रभु, इसको शरणमें लेना चहिए—यह शिष्ट है।' दोनोंमें मतभेद हो गया। सुग्रीवजी राजा और हनुमानजी उनके मन्त्री। वैसे सुग्रीवका स्वभाव ही संशयालु था। पहले रामचन्द्रपर भी तो उन्होंने संशय ही किया था कि ये कहीं बालीके भेजे हुए न हों। तो जिसके चित्तमें संशय रहता है, वह सबके प्रति संशयालु रहता है। सुग्रीवने कहा—'विभीषणो न ग्राह्यः दुष्टत्वात्'—विभीषणको ग्रहण करना उचित नहीं है, क्योंकि यह दुष्ट है। 'न ग्राह्यः'—यह साध्य है और 'दुष्टत्वात्'—यह हेतु है। नहीं ग्रहण करना चाहिए—ऐसा साध्य बताते हैं सुग्रीव और उसका कारण बताते हैं—दुष्ट होना। हनुमानजीने बताया—'विभीषणो ग्राह्यः'। विभीषणको ग्रहण करना चाहिए। शिष्टत्वात्—क्योंकि विभीषण शिष्ट हैं। दुष्ट नहीं हैं, इसलिए इनको ग्रहण करना चाहिए। भगवान् रामचन्द्रने कहा—'सुग्रीव तुम्हारे साध्य और हेतु दोनों दोषपूर्ण हैं। ग्रहण न करना—यह भी दोष है और दुष्ट होनेके कारण ग्रहण नहीं करना—यह हेतु भी दोष-युक्त है। और हनुमान, तुम्हारा साध्य तो ठीक है—ग्रहण करना चाहिए परन्तु हेतु गलत है—शिष्ट होनेके कारण ग्रहण करना चाहिए। तब कैसे ग्रहण करना चाहिए ? वाल्मीकि रामायणमें है—'दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सताम् एतदगर्हितम्'—दोषी-से-दोषी व्यक्ति भी यदि अपनी शरणमें आवे तो उसको स्वीकार करना चाहिए। सत्पुरुषोंके लिए यह गर्हित, निन्दित नहीं है।

कोटि विप्रवध लागहिं जाहू।
आस शरण तजहूँ नहि ताहू॥

कोटि-कोटि ब्राह्मणके वधका, ब्राह्मणके वधका भी दोष जिसे लगा हो और वह शरणमें आजाये तो मैं उसको छोड़ता नहीं हूँ—यह भगवान्‌का निर्णय है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

वाल्मीकि रामायणमें श्रीरामचन्द्र बोलते हैं कि एक बार, केवल एक बार मेरे प्रति प्रपन्न हो जाये, पकड़ ले मेरा पाँव और बोल दे कि मैं तुम्हारा हूँ, तो चाहे वह कोई भी प्राणी क्यों न हो—चोर, डाकू, व्यभिचारी, अनाचारी, पशु-पक्षी—कोई भी हो—'सर्वभूतेभ्यो'—अभय देता हूँ अथवा उसके लिए फिर किसीका भय रहता ही नहीं है—सब भूतोंसे उसको निडर कर देता हूँ। उसके लिए फिर किसीका डर नहीं रहता—न देवताका, न दैत्यका, न वेदका, न शास्त्रका, न धर्मका। उसके पशुत्वको ही सर्वथा निवृत्त कर देता हूँ, चाहे कोई भी हो, सबको अभय-दान करता हूँ और सब किसीसे अभय-दान करता हूँ—यह मेरा व्रत है। मेरी प्रतिज्ञा है।

रामचन्द्र अपनी प्रतिज्ञाके पक्के हैं। वाल्मीकि रामायणमें एक स्थानपर आता है—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥

जानकी, मैं अपना जीवन छोड़ सकता हूँ, मैं तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मणको भी छोड़ सकता हूँ, लेकिन एक बार प्रतिज्ञा करके मैं उस प्रतिज्ञाको नहीं छोड़ सकता। यह प्रसंग अरण्यकाण्डमें तब आता है, जब सीता श्रीरामचन्द्रसे प्रार्थना करती हैं, बल्कि

बिना माँगे ही सलाह देती हैं कि अस्त्र-अस्त्र छोड़ दें, नहीं तो राक्षस-गण उनको दुश्मन समझेंगे और उनपर आक्रमण कर देंगे। भगवान्ने कहा—'एतद् व्रतं मम'—यह मेरी प्रतिज्ञा है। जैसे ब्रह्मचारीका धर्म है—ब्रह्मचर्य-व्रत; पतिव्रताका धर्म है—पातिव्रत; वैसे ही भगवान्ने कहा—मेरा धर्म है—प्रतिज्ञा-पालन और मैं अपना धर्म नहीं छोड़ सकता।

इससे भी उत्तम कोटिकी बात वाल्मीकि रामायणमें आती है। कल ही आपको सुनाया था कि हीनकी शरणागति लेनेवाले नष्ट हो जाते हैं। उनका काम नहीं बनता है। मन्थराकी शरण कैकेयीने ली—नष्ट हो गयी। कैकेयीकी शरण दशरथने ली—मर गये। समुद्रकी शरण रामचन्द्रने ली—उनका काम नहीं बना। अतः शरणागति सर्वोत्तमकी ही लेनी चाहिए। पर, कहीं-कहीं ऐसे लोग मिल जाते हैं कि इतनी सरल, सुगम शरणागति भी नहीं कर पाते हैं। उनके लिए यह भी कठिन हो जाती है। उदाहरणके लिए बताया—इन्द्रके बेटे जयन्तने कौवेका भेष धारण करके उस समय सीताजीके वक्षःस्थलपर प्रहार किया, जिस समय श्रीरामचन्द्र उनकी गोदमें सिर रखकर सो रहे थे और लक्ष्मणजी भी वहाँ नहीं थे। सर्वथा एकान्त था वहाँ!

तुलसीदासजीने तो बहुत बचाकर लिखा है और चरणोंपर प्रहार बताया है—'सीता-चरण चोंच हति भागा'—पर वाल्मीकि रामायणमें स्पष्ट लिखा है कि जयन्तने सीताजीके वक्षःस्थलपर अपने पंजे मारे। भगवान् रामकी नींद टूटी। देखा उन्होंने, वक्षःस्थलसे रक्त प्रवाहित हो रहा है। समग्र ममता जागृत हो गयी। सीताजीको चोट पहुँचायी! उन्होंने आव देखा न ताव आसनमें-से कुश निकाला और उसको ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित कर-कौवेपर उसका प्रयोग कर दिया! इतनी छोटी चीज—कौआ और

उसपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग ! सृष्टिमें किसीने किया है कभी ! भगवान्‌ने कर दिया !

अब जयन्त भागा। अपने पिताके पास गया. ठुकरा दिया। ब्रह्माजीके पास गया, ठुकरा दिया। शंकरजीके पास गया, उन्होंने भी ठुकरा दिया। कहाँ जाये अब जयन्त ? नारदजीने देखा—वे महात्मा थे, उदार-चित्त। द्रवित हो गये। महात्माकी यही विशेषता होती है। महात्मा उसीको कहते हैं—जिसका मन बड़ा हो। जिसका टीका बड़ा हो या जिसके कपड़े साज-सज्जाके, सुन्दर हों, उसका नाम महात्मा नहीं होता है। महान् आत्मा यस्य स महात्मा। महान् माने परमात्मा ही है आत्मा जिसका। वेदान्तमें महान् शब्दका अर्थ होता है—ब्रह्म, परमात्मा। सांख्यमें जो महान् शब्दका अर्थ है—महत्तत्त्व, उसका खण्डन करनेके लिए तो ब्रह्म-सूत्रमें सूत्र ही है।

नारदजीने देखा—यह भगवान्‌से विमुख होकर मर जायेगा ! सोचने लगे, जीवनकालमें इसे भगवान् मिल जाते तो बहुत बढ़िया होता पर, जीवनकालमें न भी मिलें तो कम-से-कम मरनेके बाद तो मिल जायँ। जयन्तसे बोले—जा भाई, उन्हींके पास जा, जहाँसे भागकर आया है। भयकी निवृत्ति वहीं होगी जहाँसे भय आया है। जहाँसे संसारके मिथ्यात्वका निश्चय होता है, वहाँसे ही संसारका भान होता है। यह तो भानात्मक है, द्रव्यात्मक है ही नहीं। वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार सृष्टि किसी भी परोक्ष, कल्पित वस्तुसे उत्पन्न हुई है, तो वह केवल अज्ञानान्धकार है। और यदि साक्षात् अपरोक्ष आत्मासे इसका भान हो रहा है तो आत्मज्ञान होते ही यह सृष्टि मिट जायेगी, निवृत्त हो जायेगी, बाधित हो जायेगी। यही नियम है—जहाँसे आया है, वहाँ ही जायेगा। भयकी समाप्ति कहाँ होगी ? 'भयानाम् भयं भीषणं भीषणानाम्'—भयको भी भय पहुँचानेवाले। नारदजीके कहनेसे जतन्तजी लौटे तो सही—पर रामचन्द्रजीके

पास आते-आते विमुख हो गये। जब उनके चरणोंमें गिरे तब उनका मुँह हों गया दूसरी ओर और पीठ हो गयी भगवान्‌की ओर। सम्मुख नहीं हो सके।

माँकी बात अब देखो। ईश्वरीय नियममें माँका होना अनिवार्य है। बहन हो कि न हो, बेटी हो कि न हो, पत्नी हो कि न हो—ठीक है, लेकिन माँके बिना तो कोई होता ही नहीं है ना! माँ तो सर्वकारण-कारण है। सीताजीने देखा—ओ हो, विमुख होनेके कारण भगवान् इसको अपनाते नहीं हैं। झट द्रवित हो गयीं। आँखोंमें आँसू आगये। शरीरमें रोमाञ्च हो गया—करुणा उमड़ पड़ी। यह भी मेरा बेटा है। छाती खुली तो क्या हुआ? अपना बेटा क्या दूध पीते-पीते पाँव नहीं मार देता? कभी वक्षःस्थलको काट नहीं लेता है? झट दोनों हाथसे कौवेको उठाया और उसका मुँह भगवान्‌की ओर कर दिया। और तुरन्त भगवान्‌ने उसे स्वीकार कर लिया। इसको माँ बोलते हैं। इसको पिता बोलते हैं। इसको शरण बोलते हैं। शरणागति अपना प्रयत्न नहीं है। शरणागति भगवान्‌की स्वीकृति है और स्वीकृतिके बाद फिर वे कभी उसकी चूक नहीं देखते, भूल नहीं देखते। एक बार शरणमें आगया तो—

रहीत न प्रभुचित चूक किये की।
करत सुरति सौ बार हिये की॥

और जेहि अघ बध्यो ब्याध जिमि बाली।
सोइ सुकण्ठ पुनि कीन्ह कुचाली॥
सोइ करतूति विभीषण केरी।
सपहुँने जेहि न राम हित हेरी॥

यह शरणागति है। अब शरणागति-धर्म, शरणागति-भाव और शरणागति-बोधके बारेमें आपको कल सुनायेंगे।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति!

प्रवचन—५

गीता सुगीता कर्त्तव्या। सब शास्त्रोंका सार है—गीता! सर्व-शास्त्र-मयी गीता। गीता केवल कर्त्तव्य-शास्त्र, कर्म-शास्त्र ही नहीं है, गीता ब्रह्म-विद्या भी है। इसलिए साधारण लोग जहाँ रचे-पचे रहते हैं, वहाँ तककी ही बात यदि गीता कहे और तत्त्वदर्शी महात्माओंका जो अनुभव है, उसका वर्णन न करे, तो गीता सर्व-धर्म शास्त्रमयी नहीं हो सकती। गीता सबके लिए अपने-अपने धर्मके पालनकी शिक्षा देती है!

धर्मका सार, लक्ष्य है—बाहर बिखरे हुए मन और इन्द्रियोंको इकट्ठा करके, अपने आत्माका, अपने स्वरूपका अनुभव करना! गीता धर्म-कर्मका जो उपदेश करती है, वह अपने दिलको जगह-जगह फेंकनेके लिए नहीं, बल्कि फेंके हुए दिलको समेटकर ऐसे स्थानपर लानेके लिए कि जहाँ वह आत्म-साक्षात्कारके योग्य हो जाय और आत्माके वास्तविक स्वरूप ब्रह्मसे एक हो जाय!

एक ज्ञान वह होता है जिसको जानकर कुछ करना पड़ता है और जिसको जाननेका संस्कार होता है! भिन्न-भिन्न मजहबोंमें, सम्प्रदायोंमें वह संस्कार अलग-अलग रीतिसे होता है। भगवान्‌का एक स्वरूप है धर्म। लोग अलग-अलग धर्मका निरूपण करते हैं! अलग-अलग धर्मोंसे भगवान्‌की पूजा करते हैं! अलग-अलग धर्मका फल चाहते हैं। परन्तु भगवान् तो एक ही है।

धर्म भगवत्प्राप्तिका साधन है। इसमें चार बात होती है! चरित्रकी प्रधानता—पहली बात; संयमकी प्राधानता—दूसरी बात;

अन्तःकरणकी शुद्धिकी प्रधानता—तीसरी बात और शुद्ध वस्तुके साक्षात्कारमें जिज्ञासाके द्वारा सम्बन्ध बनाकर—चौथी बात। तो, जब वस्तुका साक्षात्कार करना होता है, तब हमलोग उपनिषद्में पढ़ते हैं—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राद्धर्मादन्यत्रास्मात्कृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च………… ॥

वह—धर्मसे भी परे है, अधर्मसे भी परे है। जो कार्य है, उससे भी परे है, जो कारण है उससे भी परे है। जो हो चुका है, उससे भी परे और जो आगे होगा, उससे भी परे हैं! वह एक ऐसी वस्तु है, जिसको जान लेनेके बाद कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। कोई भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता—ऐसा एक ज्ञान है। ऐसी एक वस्तु है!

गीता यदि अन्तमें इसका निरूपण नहीं करे तो गीता अर्थियोंके लिए होगी; कामियोंके लिए होगो, सकाम-निष्काम धर्म पालन करनेवालोंके लिए होगी वह स्वर्ग-वैकुण्ठमें जाने वालोंके लिए होगी। इसी जीवनमें सत्यका साक्षात्कार करनेवालोंके लिए नहीं होगी और वे जो सुखका अनुभव करते हैं—उसका मार्ग बतानेवाली नहीं होगी! तो अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात्—यह श्रुति है और वह विदित कार्यसे भी पृथक् है और अविदित कारणसे भी पृथक् है। जिसमें कार्य-कारण भाव है ही नहीं, ऐसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त होना चाहिए! ठीक है! महाभारतमें शान्तिपर्वमें भीष्म पितामह कहते हैं—धर्म और अधर्म दानोंको छोड़ो; सत्य और असत्य दोनोंको छोड़ो और जिस बुद्धिसे धर्म-अधर्म और सत्य-असत्य छोड़े जाते हैं, उस बुद्धिको भी छोड़ो। वह बुद्धि कैसे छूटती है? तो बताया—परमतत्त्वका निश्चय हो जानेसे। 'त्यज धर्मम् असंकल्पात्'—संकल्प छोड़ दो—धर्म छूट जायेगा 'अधर्मं चाप्यलिप्सया'—वासना,

तृष्णा, लिप्सा छोड़ दो—अधर्म छूट जायेगा। बुद्धिसे जब विचार करोगे कि सत्य दो नहीं हो सकते और असत्यकी सत्ता भी नहीं हो सकती, तब सत्यासत्यका भेद छूट जायेगा। और बुद्धि परम-निश्चयात्—परमात्मा, अर्थात् परमार्थ तत्वका निश्चय करके बुद्धिका भी परित्याग कर दो।

व्याख्यानकी शैली यह है कि पहले सरल-सरल बात कही जाय, बीचमें व्याख्यानका गम्भीर बना दिया जाय और अन्तमें उसको इतना मधुर कर दिया जाय कि दूसरे दिन लोग फिर सुननेके लिए आयें! पर, आज हमने जो बात बीचमें कहनी चाहिए थी, वह पहले ही कह दी! यह जो बात मैं कर रहा हूँ, यह श्रुति, शास्त्र-सम्मत है और महात्माओंके अनुभवके अनुसार है। सिद्ध वस्तुका जैसा स्वरूप है, उसीका यह संकेत है!

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'—यह भगवान्‌की आश्वासन-वाणी है। खास करके हमारे श्रौत-स्मृति-धर्ममें पापकी कल्पना बहुत अधिक है—यह देखनेसे पाप लगता है! यह छूनेसे पाप लगता है। यह सुननेसे पाप लगता है! ऐसा विचार करनेसे भी पाप लगता है। यहाँ तक कि यदि आदमी सन्ध्या-वन्दन व गायत्री-जपके समय सो जाय, तो ठीक समय पर सन्ध्या-वन्दन व गायत्री-जप न करनेका भी पाप लगता है! माने वैदिक-सम्प्रदायमें पापोंका इतना अधिक वर्णन है कि दूसरे मजहबवाले अंगुली उठाते हैं कि यह क्या पाप-पाप-पाप भर रक्खा है? छूनेमें क्या पाप है? सुननेमें क्या पाप है? देखनेमें क्या पाप है? तो इसका उत्तर यह है कि जिससे आप उसको करनेसे बचें। यह निषेधकी एक पद्धति है, एक शैली है। परन्तु यदि पाप हो हो जायें तो

उनसे छूटनेके ऐसे आसान तरीके हैं कि आपका पाप छूटते देर नहीं लगती ! परन्तु, पाप छूट जायेगा, इस नियतसे पाप नहीं करना चाहिए। यदि किसी वुरी चीजपर आपकी नजर पड़ जाय, अथवा परायी बहू-बेटीपर वासनापूर्ण दृष्टि पड़ जाय तो तुरन्त सूर्यकी ओर देख लेना चाहिए। इससे उसका पाप मिट जाता है ! भगवान्‌का नाम लेनेसे पाप छूट जाता है !

अतिपापप्रसक्तोऽपि स्मरन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति………… ॥

अत्यन्त पापमें लगा हुआ व्यक्ति भी यदि पाप छोड़नेका संकल्प करके, एक क्षणके लिए भी भगवान्‌का स्मरण कर ले तो सब पापोंसे छूट जाता है। पापका छूटना कठिन नहीं है, फिरसे वही पाप न करनेका संकल्प कठिन है ! अब रोज-रोज राम-राम कहें और रोज-रोज पाप करते जाय और रोज पाप करें और रोज-रोज राम-राम कहते जायँ, तो हमारे शास्त्रका यह सिद्धान्त है—

भगवान्‌के नामका बल, आश्रय लेकर जो पाप करता है, उसको एक यमराज नहीं, हजार यमराज भी चाहें कि हम मुक्त कर दें, तो नहीं कर सकते। पापके भयसे मुक्त करनेके लिए साधनके प्रारम्भमें यह बात कही गयी—'अपि चेदसि सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकृत्तम'। मान लिया कि तुम दुनियामें सबसे बड़े पापी हो—दुनियाके तीन सबसे बड़े पापी छाँट लिये जायें—अपि चेदसि। उनमें-से एक, एकसे बड़ा दूसरा और दूसरेसे बड़ा तीसरा—जिससे बड़ा पापी और कोई नहीं है—इतने बड़े पापी तुम हो—तो भी आओ, हमारे ज्ञानके जहाजपर बैठ जाओ यह तुम्हें सब पापोंसे पार कर देगा।

भागवतमें इसको दूसरे ढङ्गसे बताया—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेः

जो अपने धर्मको छोड़कर भगवान्‌के चरणकमलकी आराधना करते हैं और आराधनाका परिपाक नहीं होता और उस मार्गसे गिर जाते हैं, तो क्या उसका अहित होगा ? नहीं। जिसकी आराधना कर रहे थे, वे स्वयं उसकी रक्षा करेंगे और जो लोग भगवान्‌का भजन नहीं करते हैं और धर्माचारके बिस्तारमें ही लगे रह जाते हैं, क्या उनको भगवत्प्राप्ति होगी ? नहीं। क्योंकि उन्होंने भगवान्‌का, सबसे बलवान आश्रय छोड़कर, बहुत ही कमजोर अपने कर्म, इन्द्रियों व अहंका आश्रय लिया।

पर धर्म-ज्ञान भी कभी-कभी दुविधामें डालनेवाला होता है। गीतामें ही अर्जुन बोलते हैं—'धर्मसम्मूढचेताः'। धर्मके सम्बन्धमें मेरी बुद्धि सम्मोहित है, सम्मुग्ध है। मैं नहीं समझ पाता कि क्या करना धर्म है और क्या करना अधर्म है।

आपने सुना ही होगा—'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'। धर्मका जो तत्त्व है, वह बहुत बड़ी गुहामें छिपाया हुआ है, जिससे मनुष्य बीच-बीचमें दुविधामें पड़ जाता है। यह भी कहा गया—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' स्वधर्ममें मरना अच्छा है और परधर्मको स्वीकार करना बहुत भयङ्कर है। अब आपको गीतासे कहाँ-कहाँसे धर्मकी बात सुनावें ? यहाँ मूल बात है—भगवान्‌के आश्रयकी और भगवत्तत्त्वके अनुभवकी।

एक रबिया नामकी मुसलमान भक्त थी। वह कहती थी कि हे प्रभु, यदि मैं नरकसे बचनेके लिए आपकी भक्ति करती होऊँ तो मुझे सर्वदाके लिए नरकमें डाल देना और यदि मैं स्वर्ग पानेके लिए आपकी भक्ति करती होऊँ तो मुझे कभी स्वर्गमें मत भेजना। आप मेरी वासना पूरी मत करना, अपनी इच्छा पूरी करना। मेरा जीवन मेरी इच्छा पूरी करनेके लिए न हो, मेरा जीवन आपकी इच्छा पूरी करनेके लिए हो। तो भाई मेरे, ये सब बातें अपने

जीवनमें न आयें तो कुछ बात नहीं, कम-से-कम उनको जानना तो चाहिए, जिनसे उनका संस्कार मनमें बने, विश्वास मनमें बने। आगे चलकर ये बातें आपके जीवनके लिए बहुत हितकारी सिद्ध होंगी।

अच्छा; एक और बात जीवनमें ध्यान देने लायक है कि कोई भी निर्दोष नहीं होता। जो अपना दोष देख नहीं सकता, वह या तो इतना मूर्ख है कि दोषको समझता नहीं और या तो इतना पाखण्डी है कि अपने दोषको जानते हुए भी छिपानेका प्रयत्न करता है। जितना भी स्थावर, जङ्गम सृष्टिमें पैदा हुआ है, सबमें दोष है। ब्रह्मामें भी दोष है—जिसके कारण उनका पाँचवा सिर काटा गया; विष्णुमें भी दोष है, जिसके कारण उन्हें श्मशानमें वृन्दाकी चितापर बैठकर धूल लपेटना पड़ा और शङ्करमें भी दोष है, जिसके कारण उन्हें देवीका मुर्दा लेकर वन-वनमें भटकना पड़ा। (ये सारी कथाएँ पुराणोंमें है) जो व्यक्ति जन्म लेता है, वह सर्वथा निर्दोष हो, यह सम्भव नहीं है। थोड़ी-सी माया सबके साथ लिपटती है, चाहे वह देवता हो कि दानव हो। और वेदान्तकी दृष्टिसे तो ईश्वर भी मायाकी उपाधिसे ही ईश्वर होता है। यदि उसमें माया न हो तो ईश्वरका ईश्वरत्व नहीं रहेगा, सिर्फ ब्रह्मत्व ही रहेगा।

इतना विस्तारसे मैंने यह बात यों कही कि पाप सबमें रहता है और उसका डर भी सबका रहता है। इस डरसे मुक्त करने वाला कोई चाहिए। श्रीकृष्ण छाती ठोंककर बोलते हैं—'वह मैं हूँ—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। मोक्षयिष्यामि—मैं छुड़ाऊँगा और सारे पापोंसे छुड़ाऊँगा।' क्या अब आपको मालूम पड़ता है कि मनुष्यके जीवनमें ईश्वरकी आवश्यकता क्यों है ?

आपका जीवन सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता। अतः आपको अपने दोषका, पापका फल दुःख भोगना ही पड़ेगा। यहाँ तक कि

प्रायश्चित्त करनेमें भी पाप हो जाता है। पा धातुसे प प्रत्यय होता है और उसका अर्थ होता है—जिससे कोई रक्षा न कर सके, उसका नाम पाप। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं' अपने पापका फल अवश्य भोगना पड़ता है। यह संविधान है। ठीक है, संविधान तो है—पर संविधानके ऊपर भी कोई है कि नहीं ? है। ईश्वर है। पर यदि आपको ईश्वरपर विश्वास नहीं है, आपके मनमें ईश्वरके प्रति आस्था नहीं है, तो आप रोते ही रह जायेंगे और आपको पापसे मुक्त करनेवाला कोई नहीं होगा।

आपके शरीरमें जो मैल लगी है, उसको धोनेके लिए आप साबुन लगाइये। लेकिन साबुनको भी धोनेके लिए पानी चाहिए। मैल लगना कार्य है और उसको छुड़ानेके लिए साबुन लगाना भी कार्य है। परन्तु जल कार्य नहीं है। जल तत्त्व है। गन्दी चीज मिलनेसे जल ही मैला हो जाता है और साफ करनेवाली चीज मिलनेसे जल ही स्वच्छ हो जाता है। लेकिन साबुन धोनेके लिए शुद्ध जलकी आवश्यकता होती है। नहीं तो वह साबुन ही आपके शरीरमें मैल बनकर लगा रह जायेगा। आप स्वयं सोच सकते हैं कि आपके शरीरपर पाउडर लगे और उसे छुड़ाया न जाये, स्नो लगे और उसे छुड़ाया न जाये, होठोंपर लिपिस्टिक लगे और छुड़ाया न जाये, तो ये आपके शरीरको स्वच्छ बनायेंगे कि गन्दा बनायेंगे ? ये भी गन्दगीका एक कारण बन जायेंगे। तो जैसे लौकिक गन्दगीको दूर करनेके लिए जल-तत्त्वकी आवश्यकता पड़ती है—माटीसे माटी नहीं छूटती है, पानीसे माटी छूटती है, वैसे ही अन्तःकरण-रूप शरीरमें लगी मैलको साफ करनेके लिए हमें धर्मकी आवश्यकता होती है। यह धर्मका रहस्य है।

हमको पहले लोटा माँजना नहीं आता था। हमारे हाथमें मिट्टी लगी रहती और हम लोटेको धोने लगते। इससे लोटा साफ

नहीं होता। तब हमारे पितामहने हमें बताया कि पहले अपना हाथ धोलो और फिर लोटा धोओ। साफ हाथसे धोनेसे लोटा भी साफ हो जायेगा। हाथ मैले होंगे और लोटा साफ करने चलोगे तो लोटा साफ नहीं होगा। यही स्थिति समाज-सुधारकोंकी है। अपना मन शुद्ध नहीं है और दूसरोंको शुद्ध करनेके लिए जाते हैं। इससे होता यह है कि या तो वे और अशुद्ध हो जाते हैं या उनको भी अशुद्ध करके लौटते हैं। जबतक हमारा पोतना साफ नहीं होगा, तबतक हम फर्शको या मेजको साफ नहीं कर सकते।

धर्म एक संस्कार है। एक ऐसा संस्कार जिससे हम अन्तः-करण-रूप शरीरमें लगी मैलको छुड़ा सकते हैं। और यदि कहो कि परमात्मा धर्मका कर्त्ता है, कारण है, फल है, भोक्ता है, तो परमात्माको कृत्रिम बनानेकी आवश्यकता नहीं है। वह स्वतः सिद्ध है। अकृत्रिम है। वेदान्तियोंमें तो इसका बड़ा भारी शास्त्रार्थ है—आत्मा किस प्रमाणसे सिद्ध होता है? बोले—बाबा, सब कुछ प्रमाणसे ही सिद्ध नहीं होता है। प्रमाण किससे सिद्ध होते हैं? हमारी आत्माके अस्तित्वसे प्रमाण सिद्ध होते हैं। आँखसे रूप सिद्ध होता है। परन्तु आँखको सिद्ध करनेके लिए किसी चीजकी जरूरत नहीं होती। आँख है, इसको मैं जानता हूँ और बिना किसी प्रमाणके जानता हूँ। इसी तरह ये पाप-पुण्य दोनों जिसमें परस्परकी अपेक्षासे आरोपित हैं, पापको दूर करनेके लिए पुण्य और पुण्यको आवृत करनेके लिए पाप। पाप पुण्यको ढँक देता है और पुण्य, पापको धो देता है। ये दानों—धोनेवाला और धोये जानेवाला—जिस अन्तःकरणमें काम करते हैं, उससे परे एक वस्तु है, वह स्वतः सिद्ध है, वह आत्मा है, वह परमात्मा ही है।

वही परमात्मा आपके सामने खड़ा है और कह रहा है—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' डरो मत! आश्वस्त हो

जाओ। गुरुजीने कहा—बेटा, तुम कितने भी गहरे कुएँमें गिरोगे, मेरा हाथ बहुत लम्बा है मैं तुम्हें वहाँसे निकाल लूँगा। यह हुई गुरुजीकी बात। अब शिष्यकी बात देखिये। शिष्यने कहा—'महाराज, आपकी आज्ञा हो तो मैं नरकमें जानेको तैयार हूँ।' गुरुजोने पूछा—'अरे बेटा, तूँ नरकमें जानेको क्यों तैयार हो? क्या मेरे पास नरकमें जानेके लिए आया है?' शिष्यने कहा—'नहीं महाराज, अबतक मैं अपने लिए, अपने कर्मके लिए हजारों बार नरकमें गया और वहाँसे निकलकर आया, अब यदि एक बार आपके लिए जाना पड़े तो इसमें क्या बुराई है?' अच्छा भाई, अब हम 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'की बात प्रारम्भ करते हैं।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—श्रीमधुसूदन सरस्वतीजोका कहना है कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'का अर्थ है—सर्वधर्मके आश्रयका परित्याग। तब क्या होगा? धर्म हमारी रक्षा करेगा। ठीक है। एक हदतक—'धर्मो रक्षति रक्षितः। यदि हम अपने धर्मकी रक्षा करेंगे, तो धर्म हमारी रक्षा करेगा। पर, धर्म कहाँतक रक्षा करता है? जहाँतक कर्त्ता-भोक्ताका सम्बन्ध है; जहाँ तक नरक-स्वर्गका सम्बन्ध है, वहाँ तक धर्म हमारी रक्षा करता है। और आगे? आगेके लिए वे यह कहते हैं कि आगे केवल परमात्मा ही रक्षा कर सकता है, दूसरा कोई नहीं कर सकता। क्या आपको भरोसा है कि आपके परिवारके लोग आपकी रक्षा करेंगे? क्या आपको यह विश्वास है कि आप स्वयं अपनी रक्षा कर लेंगे? क्या आपको यह विश्वास है कि आपके इष्ट-मित्र आपकी रक्षा करेंगे? हाँ भाई, ठोक है! संसारमें यथाशक्ति ये लोग रक्षा करते हैं, लेकिन परलोकमें? परलोकमें तो धर्म ही रक्षा कर सकता है। ब्रह्मचारोने भरोसा किया कि ब्रह्मचर्य-धर्म हमारी रक्षा करेगा; गृहस्थने भरोसा किया कि गृहस्थ-धर्म

हमारी रक्षा करेगा; वानप्रस्थने भरोसा किया कि वानप्रस्थ-धर्म हमारी रक्षा करेगा; संन्यासीने भरोसा किया कि संन्यास-धर्म हमारी रक्षा करेगा। श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने कहा कि देखो भाई, तुमलोग अपने किये-कराये धर्मका सहारा मत लो—'आश्रयत्वेन परित्यज्य।' धर्म करो, वह तो कर्तव्य है, करना ही चाहिए। परन्तु तुम्हारा उद्धार, तुम्हारा कल्याण, तुम्हारा मङ्गल धर्म नहीं करेगा, परमेश्वर करेगा। आश्रय धर्मका मत रक्खो, आश्रय ईश्वरका रक्खो।

धर्मका एक जीवन होता है। वह कहींसे शुरू होता है और कहीं जाकर समाप्त हो जाता है। ईश्वर वह है, जिसकी न शुरुवात है और न समाप्ति। वह अनादि है, अनन्त है। और ईश्वरके संरक्षणमें रहोगे तो, संरक्षणकी न आदि होगी, न अन्त होगा। अनादि, अनन्त संरक्षण आपको मिलता रहेगा। जब कि धर्मका संरक्षण तभीतक रहेगा जबतक, जितनी श्रद्धासे, जितने बलसे, जितने विधि-विधानसे और जिस मात्रामें आपने धर्म किया होगा। असली रक्षक तो भगवान् हैं। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'—अर्थात् 'धर्माणाम् आश्रयं परित्यज्य।' धर्म करो, परन्तु धर्मको भगवान्को समर्पित करते जाओ और भगवान्का आश्रय रक्खो कि भगवान् हमारी रक्षा करेंगे।

वेदान्तियोंका अर्थ भी आपको सुना देते हैं। बहुत ही विलक्षण है। 'सर्वेषां इन्द्रियाणां मनोवृत्तीणां च धर्मान् परित्यज्य' आँख देखती है, मैं नहीं। कान सुनते हैं, मैं नहीं। पाँव चलते हैं, मैं नहीं। हाथ काम करते हैं, मैं नहीं। मन सङ्कल्प करता है, मैं नहीं। बुद्धि विचार करती है, मैं नहीं। अन्तःकरणकी सारी वृत्तियाँ सुषुप्ति और समाधिमें लीन हो जाती हैं, मैं नहीं। तो ये जो इन्द्रियोंके और मनोवृत्तियोंके धर्म हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें—वे धर्म न

तुम्हारे हैं और न तुम उन धर्मोंके हो। इस प्रकार उनका परित्याग करके। यह विचार आधुनिक वेदान्तका है। प्राचीन वेदान्ती इसका अर्थ दूसरे ढङ्गसे करते हैं। वे कहते हैं कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'में अधर्मका जो परित्याग है, वह तो सारे शास्त्रोंमें ही है। ऐसा कोई शास्त्र नहीं है, जो अधर्म छोड़नेका आदेश न देता हो। तो, जब अधर्म छोड़नेका आदेश सभी शास्त्रोंमें है और हम अधर्म छोड़ देते हैं, तो हमारे जीवनमें सिर्फ धर्म रह जाता है और फिर वह धर्म हमें अपना फल इस लोकमें देता है, परलोकमें देता है और अगले जन्ममें भी देता है। परन्तु इससे संसारीपना नहीं छूटता है।

उनके अनुसार जीवके साथ चार दोष लगे हैं। पहला—मैं कर्म करनेवाला कर्त्ता हूँ; दूसरा—मैं सुख, दुःखको भोगनेवाला भोक्ता हूँ; तीसरा—मैं इस जन्ममें, अगले जन्ममें, पिछले जन्ममें, नरक-स्वर्गमें आता-जाता रहता हूँ—संसारी हूँ और चौथा—मैं एक टुकड़ा हूँ, कतरा हूँ, परिच्छिन्न हूँ। ये दोष कैसे लगे? देहमें 'मैं' कर लेनेके कारण ही ये दोष लग गये। तो जबतक हम जाग्रत्-अवस्थाके धर्मों और कर्मोंका परित्याग नहीं करेंगे; जबतक हम स्वप्नावस्थाके धर्मों और कर्मोंका परित्याग नहीं करेंगे, जबतक हम सुषुप्ति-अवस्थाके भोक्तापनका परित्याग नहीं करेंगे, तबतक स्वर्गमें, नरकमें और पुनर्जन्ममें आना-जाना लगा रहेगा और हम एक टुकड़ेके रूपमें ही रहेंगे। तो श्रीशङ्कराचार्यजी महाराजने कहा कि आप धर्माधर्म दोनोंसे मुक्त हो जायें। अद्भुत लीला है। पर, यहाँ कोई गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। गलतफहमी यह है कि जब भगवान् कहते हैं कि सारे धर्म छोड़ दो, तब उनका यह अभिप्राय नहीं कि धर्म छोड़कर अधर्म करो। उनका अभिप्राय यह है कि पहले अधर्म छोड़ दो और फिर धर्म छोड़कर, धर्माधर्मसे मुक्त जो आत्मतत्त्व है, उसका साक्षात्कार करो।

अब, आपको धर्मकी साधारण बात सुनाता हूँ। धर्म दो तरहका होता है। एक—वह जो हम करते हैं—पुण्य, यम, न्याय, कर्त्तव्य-पालन आदि और दूसरा—वह धर्म, जिसने हमको धारण कर रक्खा है, मानो धर्म ही आँखको (आगेका) रास्ता दिखाता है और पाँवसे उस रास्तेपर चलाता है। तो आँख और पाँव दोनोंको समन्वित करके—आँख देखती रहती है और पाँव चलता रहता है और पाँव चलता रहता है और आँख देखती रहती है—इस प्रकार हम अपने जीवनका रास्ता तय करते हैं। यह जो आँख और पाँवका समन्वय है अथवा यह जो वक्ष बहुत सुकोमल है—हमारी त्वचा इसे छूना चाहती है; यह जो फूल है—हमारी नाक इसे सूँघना चाहती है और झट उसको उठाकर नाकसे लगा दिया—तो यह जो हमारे चित्तमें हमारे जीवनमें ज्ञान और कर्मका समन्वय है—इसको स्थापित करनेवाला धर्म—यह कारणात्मक धर्म है; ईश्वरेच्छासे आया है; प्रकृतिसे आया है; पूर्व-पूर्व-जन्मके संस्कारोंसे आया है।

धर्म दो तरहका है—कार्यात्मक और कारणात्मक। कार्यात्मक धर्म—इसको हम धारण करते हैं। इसको हम करनेमें, छोड़नेमें और बदलनेमें समर्थ हैं। अपनी इच्छानुसार हम इसे कर भी सकते हैं. छोड़ भी सकते हैं और बदल भी सकते हैं। गणेशजीकी पूजा कर रहे थे, सिद्धि नहीं मिली तो बोले—अब तुम्हारे बापकी पूजा करेंगे, तुम्हारी पूजा नहीं करेंगे और उठाकर गणेशजीको आलेमें रख दिया। जिसको हम करनेमें स्वतन्त्र, छोड़नेमें स्वतन्त्र और बदलनेमें स्वतन्त्र हैं—उसको कार्यात्मक-धर्म बोलते हैं और जिसको हम छोड़नेमें समर्थ नहीं हैं, जिसने हमको धारण कर रक्खा है—चामके भीतर रक्तको रक्खे हुए हैं, रक्तके भीतर माँसको रक्खे हुए हैं, माँसके भीतर हड्डीको रक्खे हुए हैं; हड्डीके भीतर

शक्तिको रक्खे हुए हैं, शक्तिके भीतर चेतनाको रक्खे हुए हैं—उसको कारणात्मक-धर्म बोलते हैं।

तो, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'का अर्थ हुआ कि यदि हमें परमात्माका साक्षात्कार करना है तो हमें कार्यात्मक—जो हमारे द्वारा किया जानेवाला धर्म है, उसकी फलेच्छा नहीं होनी चाहिए और कारणात्मक—जो हमें धारण करनेवाला धर्म है, उसके अभिमानसे मुक्त हो जाना चाहिए। अर्थात् कर्तृत्त्व और वासनासे मुक्त हो जाना ही कार्यात्मक और कारणात्मक धर्मका परित्याग है।

अब आप, सर्व धर्मोंके परित्यागकी बातपर ध्यान दें। क्या छोड़ा जा सकता है और क्या नहीं छोड़ा जा सकता है और आप क्या छोड़ सकते हैं और क्या नहीं छोड़ सकते हैं। जो आप कर ही नहीं सकते, वह करनेके लिए आपको कैसे कहा जायेगा? यह 'अशक्यानुष्ठान' नामक दोष है। जैसे—एक बच्चेसे आपने कहा कि—वह दो मनका पत्थर उठाकर ला दो, तो वह बच्चा तो उसे उठा नहीं सकता। इसलिए यदि ऐसी आज्ञा बच्चेको दी जायेगी, जिसका पालन वह नहीं कर सकता तो आज्ञा पालन न करनेका दोष बच्चेको नहीं लगेगा। वैसे ही, जो चीज हम छोड़ नहीं सकते, उसको छोड़नेके लिए यदि हमें कहा जायेगा, तो हम कैसे छोड़ेंगे उसको? यदि अपनेसे अन्य कोई वस्तु होती है तो उसका परित्याग किया जा सकता है। दूसरेको छोड़ा जा सकता है, अपनेको नहीं छोड़ा जा सकता। आत्माको नहीं छोड़ा जा सकता। अनात्माको छोड़ा जा सकता है।

अरे बाबा, छोड़नेकी तो भगवान्‌ने ऐसी आदत दी है कि हमारे बाबा हमको गोदमें लेकर तख्तेपर सोया करते थे। रातको जब वे सो जाते, तब मैं उनके हाथसे छूट जाता और तख्तेपरसे

नीचे गिर पड़ता। इसका उनको पता ही नहीं चलता। नींद जब टूटती तब ढूँढते कहाँ गया, कहाँ गया। भगवान्‌ने यह सुषुप्ति-अवस्था, गाढ़ निद्रा बनायी—इसमें हमें सब कुछ छोड़ना ही पड़ता है। साथ सोयी हुई पत्नीका पता नहीं चलता है। साथ सोये हुए बच्चेका ध्यान नहीं रहता है। कभी-कभी तो लोग सोये-सोयेमें कपड़े-जेवर भी उतार लेते हैं और आदमीको उसका पता नहीं चलता है। अर्थात् सुषुप्ति-दशामें त्यागका इतना सामर्थ्य है हममें कि माता, माता नहीं रहती, पिता, पिता नहीं रहते और देवता, देवता नहीं रहते। लेकिन क्या उस समय, आप अपनेको छोड़ देते हैं? नहीं। वह आत्माका स्वरूप है। वह आपका अनन्त जीवन है। उसको आप छोड़ नहीं सकते हैं।

अब देखिये, शरण लेनेवाली वस्तु कहाँ है? जिसको आप सुषुप्ति-दशामें छोड़ सकते हैं, उसको तो छोड़नेका आपमें सामर्थ्य है और जिसमें आप सुषुप्तिमें स्थित होते हैं, उसे आप छोड़ नहीं सकते हैं, वह छोड़नेकी चीज नहीं है। तो 'मामेकं शरणं व्रज'—भगवान्‌को यदि ढूँढना है, तो चलो भाई, उस सूक्ष्मतम अन्तर्देशके प्रदेशमें प्रवेश करो—वह कौन-सी वस्तु है, जिसको तुम छोड़ सकते हो और वह कौन-सी वस्तु है, जिसको तुम छोड़ नहीं सकते हो।

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—आज वेदान्तियोंका अर्थ सुना दिया। कल आपको सगुण साकार भगवान्‌की शरणागतिकी बड़ी मीठी बात सुनावेंगे।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति।

प्रवचन—६

श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि तुम अपनेको धर्म-सम्मूढचेता समझते हो; कहते हो कि धर्मोंके चक्करमें तुम्हारा ज्ञान भटक गया है, उलझ गया है। धर्मोंमें मन व बुद्धिके अटक जानेको धर्म-सम्मूढचेता बोलते हैं। 'धर्मेषु सम्मूढं चेतो यस्य।' क्या करें, क्या न करें? युद्ध करें या संन्यास लें। हम क्या करें? कोई कहता है प्रवृत्ति धर्म है, कोई कहता है विहित धर्म है और कोई कहता है शुद्ध धर्म है। श्रीकृष्णने सब धर्मोंका सार बताया—एकम् व्रज। बहुतोंको छोड़ो, एकके पास आजाओ! एकम् व्रज।

एक किसको कहते हैं? जो दोमें भी रहे, तीनमें भी रहे, चारमें भी रहे। गिनती बढ़ती-बढ़ती अरबोंतक आजाये, तब भी रहे। ज्योतिषमें असंख्य भी एक संख्या है। उसमें भी एक रहता ही है। एकके बगैर कोई संख्या बनती ही नहीं है। एक-एक-दो, एक-एक-एक-तीन, एक-एक-एक-एक-चार। बोले देखो, तुम दो, तीन, चारके चक्करमें मत पड़ो। एकम् व्रज। एति इति एकः—इण् धातुसे यह शब्द बनता है। उसका अर्थ होता है—'एकद्वित्रि-चतुरादिषु एति इति एकः।' जो दो, तीन, चार सबमें अनुगत रहता है, उसका नाम एक है! एकम् व्रज। व्रज क्या होता है? व्रज गतौ धातु है और गमन, ज्ञान, प्राप्ति और मोक्ष—इसके चार अर्थ होते हैं—'गमनज्ञानमोक्षेषु प्राप्तौ चापि गतिर्मता।' व्रजका अर्थ है—मेरे पास आजाओ, मुझे जान लो, मुक्त हो जाओ, और मुझे प्राप्त कर लो! ये चार अर्थ व्रजमें-से निकलते हैं। आप अपनी इच्छानुसार अर्थ कर लीजिये।

अब—कथं भूतं एकम्—वह एक कौन है ? क्या ? वैसे परमार्थमें कैसे और क्यों—इन प्रश्नोंको कोई महत्त्व नहीं दिया जाता है। वहाँ तो आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है—का महत्त्व होता है। मैं आपको ऐसा अर्थ सुना रहा हूँ जो सामान्य रूपसे टीकाओंमें नहीं मिलेगा—'एकं शरणं गृहं निवासस्थानं'—उस एकके पास आजाओ जो तुम्हारा घर है, जो तुम्हारा निवास-स्थान है, जिसमें तुम रहते हो और जानते नहीं हो। रह रहे हो उसीमें। होश-हवाश है उसीका, चलना-फिरना भी है उसीका; लेकिन जिसमें हो, उसको जानते नहीं हो। 'शरणं'—जिसमें पहुँचनेके बाद, जिसको पानेके बाद कहीं जाना शेष नहीं रहता। यह धर्मशाला नहीं है, यह किसीका गेस्ट-हाऊस नहीं है, यह होटल नहीं है—यह घर है। यह शरण है और एकमात्र तुम्हारा घर है। इसके सिवाय तुम्हारा दूसरा कोई घर नहीं है। 'एकम् शरणं व्रज'।

अर्जुनने कहा—'पहेली मत बुझाओ। सीसी-सीधी बात कहो। वह कौन है एक ? वह कौन है शरण ? और कहाँ है वह मेरा एकमात्र निवास-स्थान ?' श्रीकृष्णने कहा—'माम् एकं शरणं माम् व्रज।' एकमात्र आश्रय, एकमात्र शरण मैं ही हूँ। मेरे पास आजाओ। अब बुद्धिकी शरणमें जानेकी आवश्यकता नहीं। अब अन्तर्यामी—'सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'—वहाँ भी जानेकी आवश्यकता नहीं है। तब ? माम् व्रज। मेरे पास आजाओ। उनके पास जाओ, उनके पास जाओ, उनसे मिलो, उनसे मिलो—पता नहीं काम बने न बने। बोले—अपनी बुद्धिसे सोचो—पता नहीं इससे भी काम बने न बने। 'बोले माम् व्रज'—मैं जिम्मेवारी लेता हूँ—ऐसे कह दिया। अद्भुत है।

श्रीमध्वाचार्यजीने तो बहुत ही विलक्षण अर्थ किया है। माम् व्रज—लक्ष्मीं व्रज। एकम् व्रज—माम् नारायणं व्रज। मुझ

लक्ष्मीनारायणके पास आओ। यही तुम्हारा निवास-स्थान है। वेदान्तियोंने कहा—'माम् प्रमाम् व्रज।' महावाक्य-जन्य जो ज्ञान है, उसको प्राप्त कर लो।

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।

मेरा जो कुछ है, मैं जो कुछ हूँ—सब तुम्हारा है। 'नियतस्वमिति प्रबुद्धधोः' मेरी सोयी हुई बुद्धि जाग गयी—सब तुम्हारा है। मेरा स्वत्व किसीपर नहीं है। तुम्हारा ही स्वत्व है। अथवा 'किं नु समर्पयामि ते' अब मैं तुमको क्या समर्पित करूँ?

मैं चाहे शरीर होऊँ, मन होऊँ, प्राण होऊँ, इन्द्रिय होऊँ या बुद्धि होऊँ—कुछ भी होऊँ! अच्छा होऊँ, बुरा होऊँ, खरा होऊँ, खोटा होऊँ—जैसा भी मैं होऊँ—मैं हूँ तुम्हारा। बस, यह बात—'मामेकं शरणं व्रज'—मालूम नहीं थी, अब यह भी मालूम पड़ गयी। फिर बोले—'एक बात और बता दें।' क्या बता दें?' 'धर्म तो मैं छोड़ दूँगा, परन्तु पाप कैसे छोडूँगा? जो मैंने किसीको कर्ज दिया है—वह तो मैं छोड़ सकता हूँ, पर जो कर्ज लिया है सो? एक बार दो भाइयोंमें बम्बईमें लड़ाई हो गयी। एक भाई मेरे पास आया। बोला—'बहुत परेशान हूँ।' 'क्या परेशानी है?' भाई-भाईमें लड़ाई हो गयी है।' 'किस बातकी?' देखो, मैं फैसला कर देता हूँ। यदि उसका तुम्हारेपर निकलता हो तो दे दो, लड़ाई खतम हो जायेगी और यदि तुम्हारा उसपर निकलता हो हो छोड़ दो—लड़ाई खतम हो जायेगी। लड़ाई तो मुट्ठी बाँधनेसे होती है। करनेसे होती है। कृपणताके सिवाय लड़ाईका और कोई कारण नहीं है। अच्छा, ठीक है महाराज! लिया-दिया वह तो बराबर। परन्तु, कर्जका कैसे होगा? पापका कैसे होगा? पाप तो छोड़ नहीं सकते। पुरस्कार मिले तो छोड़ सकते हैं—सुनो, एक बार हमारे किसी मित्रको सरकारकी ओरसे पन्द्रह

हजार रुपये पुरस्कारमें मिले। उसने बड़े विनयसे चिट्ठी लिखी—मैंने इसे स्वीकार किया, परन्तु मैं यह रुपया नहीं लूँगा, इसे किसी अच्छे काममें लगा दिया जाये। सरकारने झट मंजूर कर लिया। परन्तु यदि सरकारने किसीपर पाँच हजारका जुर्माना कर दिया और वह चिट्ठी लिखे कि मैं इसका त्याग करता हूँ, तो नहीं चलता। इसी तरह धर्मका जो फल है—सुख, उसको आप छोड़ सकते हैं, लेकिन पापका जो फल है—दुःख, उसको आप नहीं छोड़ सकते। प्रश्न उठा—फिर पापोंका क्या होगा?

आपको याद होगा कि जैसे धर्मके पहले सर्व है वैसे ही पापके पहले भी सर्व है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' और 'अहं त्वा सर्व-पापेभ्यो'—धर्म भी सर्व और पाप भी सर्व। अब देखना है—पाप क्या है? दुःखी जीवन ही पापका जीवन है, सब हम पहचानते नहीं हैं। हमारे जीवनमें जो भी दुःख है, वह दुःख नहीं है, वह पाप है। पापमें काई रङ्ग—नीला, पीला, लाल, काला नहीं होता। पापकी लम्बाई-चौड़ाई—एक फुट, दो फुट नहीं होती। पापकी कोई उम्र—सौ वर्ष, पचास वर्ष नहीं होती और पापमें कोई वजन—एक किलो, दो किलो भी नहीं होता। पाप एक अमूर्त्त पदार्थ है। जब दुःख मनमें आता है, तब वह देखनेमें आता है। जहाँ दुःख है, वहाँ पाप है। आप कुछ-न-कुछ गलत काम कर रहे हैं, इसलिए दुःखी हो रहे हैं।

बल्लभभाई पटेलके समयकी एक पुरानी बात आपको सुनाता हूँ। सचिवालयमें हमारी पहचानके एक सज्जन थे। एक बार उन्होंने किसी राजासे तीन लाख रुपयेकी रिश्वत ली। यह बात पटेलको मालूम पड़ गयी और उन्होंने उनको खूब डाँटा। डाँटा तो वे रुपये वापस करने गये, पर पुलिसको पता चल गया और उसने उनको पकड़ लिया। अब वे सिर पीटें कि मैं तो अच्छा

काम करने जा रहा था, रुपये वापस करने जा रहा था—मैं क्यों पकड़ा गया ? मैंने उनके घरके लोगोंसे पूछा—इतना ही लिया था कि और भी लिया था ? वे बोले—लिया तो अस्सी-पचासी लाखके करीब था। तो हम अपने दुष्कर्मको भूल जाते हैं और सत्कर्मको देखने लगते हैं। दुष्कर्म पाप है। पाप क्या है ? अपनेको और दूसरोंको नीचे गिरानेवाली जो क्रिया होती है, उसको पाप कहते हैं। पापकी परिभाषा यही है कि जिससे सामनेवालेका भी नुकसान हो और अपना भी नुकसान हो।

यह दुष्कर्म, पाप आता कहाँसे है ? वासनासे। वासनामें जब तीव्र वेग होता है, तब मनुष्य दुष्कर्म करता है। जब तीव्र काम होता है, तब व्यभिचारी बनाता है; जब तीव्र क्रोध होता है, तब चोर, बेइमान बनाता है; जब तीव्र क्रोध होता है, तब हिंसक बनाता है। अर्थात् काम, क्रोध व लोभकी तीव्र वासना ही हमको पापी बनाती है। वासनाकी तीव्रतामें ही पापकी स्थिति है। रूप देखनेकी वासनासे आँख ललचती है, बात करनेकी वासनासे जीभ ललकती है, छूनेकी वासनासे चाम ललचता है और फिर महापुरुषोंके द्वारा स्वीकृत मर्यादाका उल्लंघन हो जाता है—पाप हो जाता है ! इसीका नाम है—पाप।

अहंकी पूजा राग-द्वेषसे होती है और जब अहंकी पूजा होती है तब वासनामें तीव्रता आती है। किसीके साथ राग हो जाता है तो, कहते हैं—वाह-वाह-वाह—हमारा यार कितना सुन्दर है और किसीसे द्वेष हो जाता है तो, कहते हैं—हमारा दुश्मन कितना दुष्ट है ! अहंकी पूजा करनेके लिए जब राग-द्वेष तीव्र होता है तब वासना भी तीव्र हो जाती है और फिर वह मनुष्यको अनाचार-व्यभिचारमें ले जाती है। अच्छा, यह अहं कहाँसे आता है ? छोटी-छोटी चीजको पकड़नेसे आता है, आगन्तुक वस्तुओंमें-से आता है।

असलमें पुण्य आगन्तुक है और पाप प्रवाही है। अनादि कालसे प्रकृतिके प्रवाहमें पाप बहता आ रहा है और हम उसमें लथ-पथ हो रहे हैं और पुण्यका संस्कार हमारे अन्तःकरणमें डाल-डालकर भरा जाता है—आगन्तुक है। अन्ततः दोनों ही रहते नहीं हैं। अन्तमें न पाप रहता है और न पुण्य रहता है जैसे मैलको धोनेके लिए साबुन होता है, वैसे ही पापको धोनेके लिए पुण्य होता है। पुण्य साबुन है। हम पाप और पुण्य दोनोंसे मुक्त हो सकते हैं यदि हमारा अभिमान राग-द्वेषसे मुक्त हो जाये। अच्छा, अभिमान आता कहाँसे है? अभिमान अपनी पूर्णताके अज्ञानसे आता है। माने, हम ईश्वरसे एक हैं, जब यह बात भूल जाते हैं और अपनेको ईश्वरसे अलग पृथक् सत्ताके रूपमें स्थापित कर लेते हैं कि हमारी जाति बहुत बड़ी, हमारा धन बहुत बड़ा और ईश्वरके ऐश्वर्यको भूल जाते हैं, ईश्वरके ज्ञानको भूल जाते हैं, ईश्वरके अजातिपनेको भूल जाते हैं—तब अभिमान आता है। ईश्वरकी कोई जाति नहीं होती है। जाति वहाँ होती है, जहाँ अनेकता होती है। मनुष्य, मनुष्य, मनुष्य। जाति अनेकतामें बनती है। जो परमात्मा एक है—वह अजाति है। जब उस परमात्माको हम भूल जाते हैं, तब हम अपनी जाति बना लेते हैं। सब उस परमात्माका ही है—जब यह भूल जाते हैं, तब हम अपना धन बना लेते हैं और सब कुछ उस परमात्माकी रोशनीमें ही हो रहा है, जब यह भूल जाते हैं, तब अपना ज्ञान बना लेते हैं।

तो देखो, मूल पाप कहाँ है? भक्तोंकी भाषामें मूल-पाप ईश्वरसे विमुखतामें है और वेदान्तियोंकी भाषामें ईश्वरका अज्ञान ही मूल पाप है। ईश्वर माने पूर्णता। जिसकी सत्ता पूर्ण, जिसकी चित्ता पूर्ण और जिसका आनन्द पूर्ण—वह ईश्वर। जिसमें द्वैतका नामोनिशां नहीं—वह ईश्वर। ईश्वर सर्व नहीं—एक है। सर्व माने अनेकका समूह। टुकड़े, टुकड़े, टुकड़े जोड़कर सर्व बनता है और

जहाँ टुकड़े हैं ही नहीं—वह एक होता है। तो ईश्वरका अज्ञान, ईश्वरकी विस्मृति अथवा ईश्वरकी विमुखता—सबसे बड़ा पाप होता है। पापमें उदय होता है अभिमान—अहं, मैं और उस अहं, उस मैं-की पूजा हम राग-द्वेषके द्वारा करते हैं। दुश्मनको मारकर अपनेको बड़ा मानते हैं या मित्रको भोगकर अपनेको बड़ा मानते हैं। असलमें हम किसीको भोग देते नहीं हैं, भोग लेते ही हैं। जो कहता है कि हम तुमको भोग, सुख देना चाहते हैं, वह तुमको सुख देकर स्वयं सुखी होना चाहता है। अपनेको सुखी करनेके लिए ही तुमको सुखी करना चाह रहा है। इसलिए राग-द्वेषके द्वारा हम अपने अभिमानकी ही पूजा करते हैं। और इस राग-द्वेषके द्वारा बनी वासना बढ़ते-बढ़ते व्यभिचार, चोरी-बेईमानी, हिंसा, विद्रोह आदिका रूप धारण कर लेती है। इस तरह 'सर्वंपापेभ्यो' हो गया दुष्कृत और दुष्कृतसे आगया दुष्कर्म। यह दुःखकी वंशावली हुई, वंश-वृक्ष हुआ। जैसे भाट लोग लोगोंके वंशका वर्णन करते हैं, मैंने पापके वंशका वर्णन किया। सारे पापोंकी जड़ है—परमात्माको भूल जाना, अविद्या, अज्ञान, विमुखता।

अर्जुनने पूछा—'धर्म हम छोड़ दें और पाप हमारे सिरपर पड़ जाय तो ?' श्रीकृष्ण बोले—'तुम धर्म छोड़ो और पाप मैं छुड़ाता हूँ—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।' सचमुच, तुम पाप छोड़ नहीं सकते हो और मैं तुम्हारी विवशता, तुम्हारी मजबूरीको जानता हूँ।' जो यह सोचता है कि वह परमात्मासे एक हुए बिना निष्पाप हो गया—वह भ्रममें रहता है, भूलमें रहता है और वह नासमझ है। उसका नाम ढोंगी है परमात्मासे एक हुए बिना कोई निष्पाप नहीं हो सकता। इसलिए मनुष्यको अपने दोषको स्वीकार करना चाहिए कि यह दोष उसमें है और छुड़ाये छूटता नहीं है। जब हम किसीके सामने पाँवपर

पाँव रखकर बैठते हैं, तब मालूम थोड़े ही पड़ता है कि हम अपराध कर रहे हैं ? किसी शिष्ट पुरुषके सामने बैठकर आपसमें बात करने लगते हैं, तब कहाँ मालूम पड़ता है कि हम उनका तिरस्कार कर रहे हैं ? इस तरह हम देखते हैं कि पापके पाँवकी आवाज बहुत ही महीन, बहुत ही धीमी है। उसको किसी-किसी बुद्धिमान्‌का ही कान सुन पाता है—यह गलत है। और जब हम पहचान ही नहीं पाते कि पाप क्या है, तब उसको छोड़ ही कैसे सकते हैं ? हाँ, उसको छुड़ानेका सामर्थ्य उसी परमात्मामें है, जो अर्जुनको अपनी शरणमें बुला रहा है। कह रहा है—'मामेकं शरणं व्रज।'

देखो, धर्म तुमने किया है और उसको छोड़ भी सकते हो और पाप जानमें हुए हैं, अनजानमें हुए हैं, अनादि-कालसे हुए हैं, और उनको तुम छोड़ भी नहीं सकते हो। आदमीका स्वभाव ऐसा है कि वह पाप भूल जाता है और थोड़ा-सा भी अच्छा काम करता है तो उसको याद रखता है कि हमने यह अच्छा किया, यह अच्छा किया, यह अच्छा किया और बुरा काम करता है, तो उसको ढँक देता है, उसपर पर्दा डाल देता है और उसकी कोई याद भी दिलाता है तो उसे बुरा लगता है। तब ? पापसे छुड़ानेवाला कोई चाहिए। ठीक है। मैल लगी है—यह भी ठीक है। पर क्या अपनी मैल स्वयं नहीं छुड़ा सकता ? नहीं। उसके लिए कोई चाहिए। उसके लिए माँ चाहिए। माँ बच्चेको गुनगुने पानीमें बैठा देती है और साबुन लगाकर उसका मैल छुड़ाती है। हमने तो साबुन बड़े होनेपर देखा। हमारे घरमें साबुनका प्रयोग नहीं होता था। सफेद मिट्टी ही काममें ली जाती थी। उसीसे नहाते थे, उसीसे कपड़े भी धोते थे। धोबीके यहाँसे भी जो कपड़े धुलकर आते थे, उनको भी घरमें धो लेते थे या उनपर गंगाजल छिड़क दिया जाता था और तब काममें लेते थे। और हम लोगोंके शरीरमें उबटन—संस्कृतमें इसे उपवर्त्तन

बोलते हैं—लगाया जाता था। अपने पैरोंपर माँ हमें सुला लेती और रगड़-रगड़कर उबटन और कभी पीसी सरसों लगाती और नहलाती थी। कभी पानी ठण्डा लगता, कभी गरम भी लगता, कभी हँसते, कभी रोने भी लगते—पर माँ, कभी शरीरमें लगी मैल नहीं छोड़ती। नहलाती ही। यह है मातृत्व—मातृ-प्रेम! बच्चेके शरीरमें मैल लगी रह जाये यह बात माँको सहन नहीं होती। श्रीकृष्णने कहा—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।' मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। धर्म तुम छोड़ सकते हो, वह तुम छोड़ो और पाप, जो तुम नहीं छोड़ सकते हो, उससे मैं तुम्हें छुड़ाऊँगा, यह मेरी जिम्मेवारी है।

धर्मके लिए ऐसा माना जाता है कि जो अपना दान-पुण्य है, वह भगवान्को समर्पण करना चाहिए। दान-पुण्य समर्पण करनेसे एकका, हजार-गुणा हो जाता है, लाख-गुणा हो जाता है, अनन्त गुणा हो जाता है—शास्त्रमें पुण्योंके लिए ऐसा लिखा है। कहीं ऐसा भी लिखा है कि जो धर्म हम करते हैं, उसका कोई फल नहीं मिलता। गीतामें ही है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

वह निष्फल हो जाता है। किसी धर्मका फल जितना धर्म किया जाता है, उससे कम मिलता है। किसी धर्मका फल जितना धर्म किया जाता है, उसके बराबर मिलता है। किसी धर्मका फल जितना धर्म किया जाता है, उससे अधिक भी मिलता है। किसी धर्मका फल कल्प-व्यापी होता है और किसी धर्मका फल अक्षय भी होता है। यह सब धर्म-शास्त्रोंमें, विशेषतः पाराशर-माधवमें (धर्म-शास्त्रका ग्रन्थ है) लिखा है। यह भी लिखा है कि सब धर्म समान फल देनेवाले नहीं होते हैं और कुछ धर्मका फल तो जब हम अखबारोंमें छपवाते हैं कि यह दान किया, यह व्रत किया—

तो उससे मिलनेवाले यशके रूपमें ही मिल जाता है। पर, इससे उसकी शुद्धि अन्तःकरणमें प्रवेश नहीं करती। वह परलोकके लिए नहीं होता, इस लोकमें ही अपना यश बढ़ानेके लिए होता है। है दान—परन्तु उसका फल यशके रूपमें मिल गया।

देखो, एक बड़े व्यापारी थे। उनके बारेमें अफवाह फैल गयी कि इनका दीवाला निकलनेवाला है। अतः जिन्होंने अपना रुपया उनके यहाँ जमा कर रक्खा था, उन्होंने अपना रुपया उठाना शुरू कर दिया। इससे वे बड़े संकटमें पड़ गये—एक साथ सबोंको रुपया कहाँसे दें? तब उन्होंने एक बहुत बड़ी सभा जोड़ी और उसमें घोषणा कर दी कि मैं एक करोड़ रुपया दान करता हूँ। बस इस घोषणाको सुनकर लोगोंने रुपया उठाना बन्द कर दिया और फिर धीरे-धीरे उनका व्यापार सम्हल गया और उन्होंने धीरे-धीरे वे रुपये दान भी कर दिये। एक दिनमें करनेका तो कहा भी नहीं था—दो-तीन वर्षमें कर दिया। माने दानकी घोषणाका फल हो गया—व्यापार बचाना। वह यहीं मिल गया। पर इस तरहके धर्मसे न अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और न भगवान् प्रसन्न होते हैं।

यदि हम धर्मको बेचें नहीं, भगवान्‌को समर्पित कर दें, तो अन्तःकरणकी शुद्धि भी हो, भगवान् भी प्रसन्न हों और धर्म अनन्त-गुणा बढ़े भी। और यदि पाप भी भगवान्‌को समर्पित कर दें तो? तो क्या होगा? बोले—यह भी अनन्त-गुणा बढ़ जायेगा। और पापका फल दुःख होता है, तो हम हमारे प्यारे भगवान्‌को दुःख कैसे अर्पित करें? इसलिए धर्मात्मा लोग कोई भी अच्छा काम, पुण्य करते हैं तो कहते हैं—श्रीकृष्णार्पणमस्तु। लेकिन यदि चोरी, बेइमानी करेंगे या कोई और बुरा काम करेंगे तो थोड़े ही कहेंगे—श्रीकृष्णार्पणमस्तु! नहीं भाई, ऐसे नहीं कहेंगे। इसपर वैष्णवोंने कहा—अर्पण मत करो, पापोंका निवेदन कर दो। कह दो कि ये-ये पाप मुझसे हो गये हैं—आप इनकी सजा

देना चाहते हैं तो सजा दे दें और माफ करना चाहते हैं तो माफ कर दें—यह भक्ति हो गयी। वैष्णव लोग निवेदन ही करते हैं, समर्पण नहीं करते।

अच्छा, अब एक बात और आयी। भगवान्‌से कहा—महाराज, हम हमारा सब पुण्य आपको समर्पित कर रहे हैं, दे रहे हैं और पाप हम आपको नहीं दे रहे हैं। पाप हम भोगनेको तैयार हैं, आपकी मर्जी हो सो करो—दण्ड दो, माफ करो—जो करना है सो करो। इसपर भगवान्‌ने कहा—भगतजी, जब तुम अपना पुण्य मुझको दे रहे हो, तब जैसे एक श्रेष्ठ पुत्रका, एक उत्तराधिकारीका कर्त्तव्य है कि वह सम्पत्ति ले तो ऋण भी चुकावे—यह नहीं कि पिताजीका शरीर पूरा हो गया तो उन्होंने जिनको जिनको दे रक्खा था उसको ता बड़े प्रेमसे नोट किया कि इनसे लेना है, इनसे लेना है और उनको जिनको देना था, उसको नोट ही नहीं किया, भुला दिया। तो नहीं भाई, ऐसे नहीं चलेगा। जो पिताजीकी सम्पत्ति लेगा, उसको पिताजीका ऋण भी चुकाना पड़ेगा। वैसे ही, जब मैं अबतकका अनादिकालसे सञ्चित, क्रियमाण प्रारब्ध सभी प्रकारका तुम्हारा सब पुण्य ले रहा हूँ, तब अब मेरा यह कर्त्तव्य हो गया कि मैं तुम्हारा पाप भी उत्तराधिकारमें ले लूँ और उससे तुमको छुड़ा दूँ।'

भगवान्‌को न पाप लगता है और न पुण्य लगता है। वह तो जो भगवान्‌को जान जाता है, उसको भी नहीं लगता है।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्।

भगवान् श्रीकृष्ण हँसे और बोले—अर्जुन, तुम सब धर्म छोड़कर मेरे पास आजाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम्हारा दुःख मिटा दूँगा। तुम्हारा अज्ञान मिटा दूँगा। तुम्हारी वासना मिटा दूँगा। तुम्हारे राग-द्वेष मिटा दूँगा। तुम्हारा अभिमान मिटा

दूँगा। यह मेरी जिम्मेवारी है। बस, तुम आजाओ। 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।'

अच्छा, अब एक बात और सुना देता हूँ। हमसे किसीने कहा कि फिरसे सुना दूँ कि धर्म-त्याग कैसे हो सकता है? इसकी क्या युक्ति है? तो—विचार करो कि आत्मा-अनात्मा एकमय हैं, तो अनात्माका त्याग तो तुम कर सकते हो पर अपने स्वयंका त्याग कर सकते हो कि नहीं? नहीं। अनात्माका त्याग हो सकता है, जो अपनेसे अलग है, उसका त्याग हो सकता है। जो अपना आपा है, उसका त्याग नहीं हो सकता। आत्माका त्याग नहीं हो सकता। आप आत्माको आलेमें रख दें या तिजोरीमें रख दें या आत्माको विदेश भेजकर आप यहाँ रह जायें—तो यह नहीं हो सकता। इसका अर्थ है कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' माने आप अनात्माका परित्याग करते हैं और अनात्माका परित्याग होनेपर शुद्ध आत्मा ही शेष रह जाता है।

एक बड़े अच्छे महात्मा थे। नंगे रहते थे। और चालीस वर्ष तक नर्मदाकी घाटीमें उन्होंने योगाभ्यास किया था। उनके ब्रह्मरन्ध्रसे लेकर अज्ञाचक्र-तक एक ज्योतिर्मयी रेखा बन गयी थी। मैं उनके पास गया और मैंने उनसे कहा—'महाराज, मुझे भगवान्‌के प्रति समर्पित कर दीजिये। वे हँसे, बोले—'गुरु, तुम सोच-विचार कर आना कि कौन-सी ऐसी चीज है जो भगवान्‌की शरणमें नहीं है। कल आना, परसों आना, आज आना, घण्टे, दो घण्टेमें आना—जब तुम्हारी मौज हो तब विचार करके आना। ईश्वरकी रोशनीमें सब चमक रहा है। ईश्वरकी रोशनी ही सबको प्रकाश दे रही है। ईश्वरकी रोशनीके सिवाय और कुछ नहीं है। उपादान भी वही है, उपादेय भी वही है। दिखानेवाला भी वही है, दीखने-वाली भी वही है। मैं आकर सोचने लगा कि पृथिवी भगवान्‌की है, तो अन्न भी भगवान्‌का ही हो गया। सोना, चाँदी, हीरा, मोती

भी भगवान्‌का हो गया। मेरा घर, द्वार, शरीर भी भगवान्‌का ही हुआ। जिसकी मिट्टी है, उसीका तो यह शरीर है। मैं इसे मेरा क्यों मानता हूँ? जिसका पानी है, उसीका खून है। उसीकी हरियाली है। उसीका रस है। नींबूमें भी उसीका रस और आममें भी उसीका रस है। फिर मैं यह मेरा-मेरा-मेरा क्या है? पैसेमें जो माटी है सो? वह भी उसीकी है। जो वजन है सो? वह भी उसीका है। सूर्य उसीका है। चन्द्रमा उसीका है। आग उसीकी है। जब पृथिवी उसकी, अन्न उसका, अन्नसे बना शरीर उसका; जब तेज उसका, तेजसे बना सब कुछ उसका, तब 'टेम्परेचर' किसका? वह भी उसका है। जब वायु उसकी, तब साँस किसकी? वायु ईश्वरकी हो और साँस हमारी हो—यह कोई बुद्धिमानीका, कोई न्यायका विचार है! आकाश उसका हो और नाकके भीतरका छेद, मुँहके भीतरका छेद, रोम-रोमका छेद—यह आकाश हमारा हो? यह कोई न्याय है!

दूसरे दिन मैं गया उनके पास और मैंने उनसे कहा—'महाराज, मुझे ऐसी कोई चीज नहीं मिली, जो ईश्वर न हो, ईश्वरमें समर्पित न हो, ईश्वरकी शरणमें न हो।' वे बोले—'देखो, मैं ईश्वरकी शरणमें नहीं हूँ, मैं ईश्वरका नहीं हूँ, मैं ईश्वरके प्रति समर्पित नहीं हूँ—यह एक भूल है, एक अज्ञान है। ईश्वरकी शरणमें होना नहीं है। ईश्वरकी शरणके बारेमें जो अज्ञान है, वह दूर करना है। शरण क्रिया नहीं है कि हाथ जोड़ लिया और शरण हो गये। शरण वचन नहीं है कि वाणीसे बोल दिया और शरण हो गये। शरण भावना नहीं है कि हम बनाये रक्खें तो शरण हो गये। अर्थात् शरण कोई क्रिया, कोई सङ्कल्प, कोई भावना नहीं है। शरण तत्त्व है, शरणागति एक बोध है, एक ज्ञान है। यथार्थका ज्ञान, सत्यका ज्ञान, सच्चा अनुभव।'

अच्छा, अब और कल सुनावेंगे।

ॐ शान्ति शान्ति शान्तिः

प्रवचन–७

आप जानते ही हैं कि सञ्जयने धृतराष्ट्रको गीता सुनायी थी। प्रारम्भमें तो धृतराष्ट्रका प्रश्न है, बल्कि गीताका प्रारम्भ ही उनके प्रश्नसे होता है, परन्तु गीता सुननेका धृतराष्ट्रपर क्या प्रभाव पड़ा, इसका उल्लेख अन्त तक नहीं है। धृतराष्ट्र अन्धा-का-अन्धा ही रह गया। उसकी बुद्धिमें कोई प्रकाश नहीं हुआ। गीता सुननेके बाद उसने सञ्जयके प्रति कृतज्ञता भी प्रकट नहीं की। सञ्जयने गीता व्यासजीकी कृपासे सुनी, वह कहता है—

> व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
> योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥

सञ्जयने यह नहीं कहा कि हमारा स्वर्ग-नरकका बन्धन छूट गया; सञ्जयने कहा कि यह रोम-हर्षण सम्वाद सुनकर उसे बारम्बार आनन्दका अनुभव हो रहा है। अर्जुनने श्रीकृष्णके सामने ही बैठकर गीता सुनी। इसलिए गीता सुनानेके बाद श्रीकृष्णने अर्जुनसे प्रश्न किया—

> कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
> कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥

तुमने यह सुनी तो सही, परन्तु एकाग्रतासे सुनी या नहीं? और तुम्हारे मनमें अज्ञानके कारण जो सम्मोह उत्पन्न हुआ था, वह नष्ट हुआ या नहीं?

'श्रुतं' का अर्थ होता है—श्रवण। अर्थात्—वेदमें, उपनिषद्में,

शास्त्रमें—श्रवणकी जो विधि है उसे शुद्ध हृदयसे करनेवाला श्रोता—श्रवण मात्रसे ही कृतकृत्य हो जाता है। क्योंकि यदि किसी परोक्ष वस्तुका वर्णन होता—स्वर्ग, वैकुण्ठ या जगत्के आदि, अन्तमें रहनेवाले ईश्वरका, तो उस परोक्ष वस्तुका साक्षात्कार श्रवण मात्रसे नहीं होता। परन्तु, जो अपने आत्माके रूपमें—साक्षात् अपरोक्ष—अभी, यहीं, इसी रूपमें विद्यमान है—उसका साक्षात्कार श्रवण मात्रसे ही हो सकता है। संशय हो तो मनन करें। विपर्यय हो तो निदिध्यासन करें, नहीं तो श्रवण पर्याप्त है। पर वह श्रवण कैसा हो? एकाग्र मनसे हो—'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा' एकाग्र मनसे श्रवण होना चाहिए। क्योंकि परमात्माके साक्षात्कारके लिए 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'। सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धि चाहिए। वस्तुमें अवगाहन करनेवाली, और बहुत ही सूक्ष्म-सूक्ष्मतर वस्तुको ग्रहण करनेवाली बुद्धि चाहिए। बोले—एकाग्र बुद्धिसे श्रवण करनेका फल क्या होता है? अज्ञान और सम्मोहका प्रणाश।

हमलोगोंके जीवनमें जितना दुःख है, जितना सुख है और जितना मोह है—सब अज्ञानके कारण है। हम अपने स्वरूपको नहीं जानते हैं। परमात्माके स्वरूपको नहीं जानते हैं। हमारे सामने जो—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी छिट-पुट चीजें हैं—बस, इन्द्रियोंसे उनको जानते हैं और इन्द्रियोंकी शक्ति बहुत सीमित है। पूरी तरहसे किसी भी चीजको दिखानेका सामर्थ्य किसी भी इन्द्रियमें नहीं है। जब थोड़ा शब्द, थोड़ा गन्ध, थोड़ा स्पर्श, थोड़ा रस, थोड़ा रूप, मिलता है, तब हम बाहरी वस्तुको देख पाते हैं, जान पाते हैं। मनसे सुख-दुःख होता है, उसको जानते हैं। परन्तु जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दुःख, मोह—इनसे विलक्षण है, उस अपने आपको, आत्माको, परमात्माको नहीं जानते हैं। यह न जानना ही सम्पूर्ण शोक व मोहका हेतु है। तो गीताके श्रवणका

फल क्या है ? मरनेके बाद स्वर्गकी प्राप्ति ? नहीं। आपकी समाधि लग जायेगी ? कि वह भी नहीं। चतुर्भुज भगवान् साक्षात् आकर आपको दर्शन देंगे ? गीता-श्रवणका फल है कि आपके जीवनमें जो अज्ञान है, उसका नाश हो जाये, आप सत्यको जान जायें और अपनी अधूरी जानकारी, नासमझी और भ्रान्तिके आधारपर किसीको अच्छा और किसीको बुरा मानकर उससे राग-द्वेष न करें। अर्थात् राग-द्वेषके मूल—मोह और अज्ञानान्धकारका नाश करना, सत्यको अनावृत करना, चेतनको पूर्ण करना और अपने जीवनमें आनन्दके सिवाय और कुछ भी न रहना ही गीता-श्रवणका फल है।

श्रीकृष्णके पूछनेपर अर्जुनने बताया—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

मेरे मोहका नाश हो गया और निरन्तर स्मृतिरूप जो तत्त्व-ज्ञान है, वह मुझे प्राप्त हो गया। यह आपकी कृपा है, आपका प्रसाद है। अब मेरे मनमें कोई सन्देह नहीं है और मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

गीताके श्रवणका जो फल श्रीकृष्णने पूछा और जो अर्जुनने बताया, उसको ध्यानमें रखकर, आप 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'के अर्थको समझिये। वैसे, समझते तो हैं ही आप—हम तो आपको केवल याद दिलाते हैं—'स्मारये त्वाम् न शिक्षये'—हम आपको स्मरण दिलाते हैं—शिक्षा नहीं देते।

हमारे जीवनमें अनादि-कालसे कर्मोंका प्रवाह चल रहा है। काम-कृत कर्म, क्रोध-कृत कर्म और लोभ-कृत कर्म अर्थात्—कुछ काम हम कामनाकी पूर्तिके लिए करते हैं, कुछ काम हम क्रोधकी

पूर्तिके लिए, जो अपने विरोधी, प्रतिद्वन्द्वी हैं, उनके नाशके लिए करते हैं और कुछ काम हम लोभकी पूर्तिके लिए करते हैं। ये प्रवाही-कर्म हैं और पूर्व-पूर्व जन्मसे आये हुए हैं। यदि फिर जन्म होगा तो अगले जीवनमें भी ऐसा प्राकृत-प्रवाह बना रहेगा। जीव प्रयास तो बहुत करता है कि वह काम-क्रोध-लोभसे मुक्त हो जाये, परन्तु जब बड़े-बड़े बुद्धिमान्, विद्वान्, साधक भी अपनेको असमर्थ पाते हैं, निराश होते हैं, तब साधारण जीवका तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसका कारण यह है कि हम चाहते हैं सुख परन्तु सुख-प्राप्तिके जो साधन हैं—दान-पुण्य आदि—उनमें न हमारी रुचि होती है, और न उन्हें हम करते हैं। और हम चाहते हैं—दुःखसे परहेज, पर दुःखके कारण बनाते रहते हैं। सुख चाहते हैं, परन्तु सुखके कारणोंका अनुष्ठान नहीं करते और दुःख नहीं चाहते हैं, परन्तु दुःखके कारण बनाते रहते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि यह जीव इसी उलझनमें, इसी गड़बड़झालामें, इसी चक्रवातमें फँस गया है। जब वह सुखको पकड़ना चाहता है, तब दुःख आजाता है और वह जब दुःखको हटाना चाहता है, तब थोड़ी देरके लिए सुख आजाता है 'नीचैर्गच्छत्युपर्यपि चक्रनेमिक्रमेण' जैसे रथका पहिया कभी नीचे, कभी ऊपर चलता रहता है।

आप यह न समझें कि बड़े-बड़े तपस्वी सुखी रहते हैं। उनके जीवनमें भी बहुत-सी समस्याएँ रहतो है। आप यह भी न समझें कि बड़े-बड़े विद्वान् लोग सुखी हैं। हम विद्वानोंके पेटकी बात जानते हैं। आप यह भी न समझें कि जो बहुत धनी हैं, सम्पन्न है, राजा-रईस है—वह सुखी ही है। ऐसे कई राजा-रईस, जिनका हमारे साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है—जब हमारे पास आते हैं और एकान्तमें हमसे मिलते हैं, तब रोते हैं। बताते हैं कि उनके पास

धन बहुत है—यहाँ भी है और विलायतमें भी है—परन्तु सुख नहीं है। एकने तो हमें बतलाया कि वे सालाना तीस लाख डालर सिर्फ वकीलको ही देते हैं। आप इससे समझ सकते हैं कि उसका फर्म कितना बड़ा होगा। परन्तु बड़ा फर्म होनेसे क्या हुआ ? वह सुखी नहीं । 'धन होनेसे मनुष्य सुखी होता है'—यह कल्पना आप दूरसे कर सकते हैं। क्योंकि धन बाहर है, परिवार बाहर है, विस्तार बाहर है। और अन्दर ? अन्दर तो दुःख बना है। जब अन्दर दुःख है, तब सुखी कहाँ ?

गीताका कहना है कि जब आप सुखको बड़े जोरसे पकड़ते हैं और चाहते हैं कि वह बना रहे, तब उस पकड़नेके प्रयासमें आपके मनमें एक तरहका तनाव पैदा होता है और वह तनाव ही दुःख बन जाता है। और जब आप दुःखसे कहते हैं कि दूर रह और डण्डा लेकर उसको खदेड़ना चाहते हैं, तो उस खदेड़नेके प्रयासमें आपके मनमें जो तनाव होता है, वही दुःख बन जाता है। चाहते हैं सुख, मिलता है दुःख। चाहते हैं दुःखसे दूर रहना और दुःख और-और नजदीक आता जाता है, मिलता है।

भगवान्‌ने कहा—अर्जुन, हम तुम्हारी बात समझते हैं कि तुम धर्मका फल सुख चाहते हो और पापका फल दुःख नहीं चाहते हो और हम यह भी जानते हैं कि तुम्हारे भीतर धर्मके प्रति जितनी आस्था होनी चाहिए थी, वह नहीं है, सिर्फ ऊपरी दिखावा है। हमारे गाँवमें एक बार यह अफवाह फैली कि जब साम्यवाद होगा, तब सबको जमीन बराबर-बराबर बाँटी जायेगी। यह सुनकर, गाँवका जो सबसे गरीब आदमी था, उस आदमीके पास गया, जिसके पास पाँच बीघा जमीन थी। जाकर उनसे कहा कि साम्यवाद होनेके बाद तुम्हारी-हमारी जमीन बराबर हो जायेगी, तुम-हम बराबर हो जायेंगे। यह सुनते ही जमीनवाला

क्रोधित हो गया और उसने गरीबके सिरपर इस तरहसे एक लाठी मारी कि उसका सिर फूट गया। उसने कहा—ऐसा कैसे हो सकता है? हमारे जिन्दा रहते तुम हमारी जमीन बँटवा लोगे? वह अपनेको धनी, जमीनवाला मानता था। तो यह एक मनोवृत्ति है।

हम संसारकी वस्तुओंसे सुख चाहते हैं और उस सुखकी प्राप्तिके लिए जो साधन करते हैं, वह पर्याप्त नहीं है। इसे यों समझें कि हमारे पास एक बहुत बड़ा तालाब है—भोपालका ताल और हम उसके किनारेसे एक दूब लेकर पानीमें डुबोते हैं और उस पानीको बाहर छिटक देते हैं, फेंक देते हैं और कहते हैं कि देखो, हम अपने तालाबका जल कितनी उदारतासे देते हैं। तो क्या यह उदारता हुई? क्या हम उदार हुऐ? क्या यह धर्म हुआ? असलमें जब धर्मका अभिमान आता है, तब पाप भी आजाता है। हमें इन दोनोंसे मुक्त होना है। अतः भगवान्‌ने कहा—आओ अर्जुन,—'भक्तोसि मे सखा' तुम मेरे भक्त भी हो और सखा भी हो, मेरे प्रतिनिधि भी हो और इस समय मैं सारथि हूँ और तुम रथी हो—तो मेरे मालिक भी हो, मेरे बहनोई भी हो, (श्रीकृष्णकी बहन, सुभद्राके पति हैं अर्जुन) मैं साला हूँ और तुम बहनोई—'श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।' आओ, हमसे निकटका और कौन सम्बन्धी होगा—हम बँटवारा कर लें। आधा-आधा भार उठा लें। क्या बँटवारा कर लें? क्या आधा-आधा भार उठा लें? कि पाप और पुण्य! इन दोनोंसे मुक्त होना है। दोनोंसे मुक्त कैसे होंगे? जब अभिमानसे मुक्त होंगे। और अभिमानसे कैसे मुक्त होंगे? जब परिच्छिन्नताका भ्रम दूर होगा। परिच्छिन्नताका भ्रम कैसे दूर होगा? जब अपनी पूर्णताका, अद्वितीयताका, ब्रह्मताका ज्ञान होगा। अन्ततोगत्वा, चोट तो वहाँ भी पड़ेगी। बिना अपनी पूर्णता, अद्वितीयता और ब्रह्मताका ज्ञान हुए—दुःख

और शोककी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। तब बोले—'महाराज, आप तो छोड़नेसे छूटते नहीं हैं।' बोले—'कोई परवाह नहीं है। तुम्हें जो धर्मका आश्रय है, धर्मका अभिमान है, धर्मका कर्तृत्त्व है, उसे तुम छोड़ दो।' 'अरे, धर्मको यदि मैं छोड़ दूँगा तो करूँगा क्या? धर्म ही तो सर्वस्व है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः।' धर्मकी रक्षा हम करते हैं, तभी तो धर्म हमारी रक्षा करता है। तो धर्म छोड़नेसे कैसे होगा?' भगवान् बोले—'तुम्हें मैं जो धर्मोंका भी धर्म है, परम धर्म है वह धर्म बताता हूँ—

याज्ञवल्क्य स्मृतिके प्रारम्भमें यह बात आती है कि 'परमात्माका दर्शन करना' परम धर्म है। हमलोग दर्शनका अर्थ वैसा ही समझते हैं, जैसा स्त्री-पुरुषका दर्शन करना। परन्तु दर्शन, दर्शनमें अन्तर होता है। देखो—अन्धेरेमें घड़ी रक्खी हो तो उसको देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत होती है, टार्च जलानी पड़ती है और रोशनी हो तो? रोशनीको देखनेके लिए रोशनी नहीं चाहिए। रोशनीको देखनेके लिए आँख चाहिए और आँखको देखनेके लिए बुद्धि चाहिए। अर्थात् वस्तुका दर्शन होता है—रोशनीमें, रोशनीका दर्शन होता है—आँखसे, आँखका दर्शन होता है—बुद्धिसे, बुद्धिका दर्शन होता है—साक्षीसे और साक्षीका दर्शन करनेके लिए किसी औजारकी, किसी करणकी, किसी बाहरी सामग्रीकी आवश्यता नहीं होती है। तुम अपनेको नहीं छोड़ सकते हो, और सबको छोड़ सकते हो। सब देह-धर्म, प्राण-धर्म, बुद्धि-धर्म, मनोधम, कारण-धर्म कार्य-धर्म—सब धर्म अनात्मा हैं, अपनेसे अलग हैं, और इनको तुम छोड़ सकते हो, इसलिए इनको तुम छोड़ दो और परम धर्म करो। लौकिक धर्मका परित्याग करके परम धर्मका सेवन करो।

'परम धर्म क्या है?' 'मामेकं शरणं व्रज।' 'माम्—मैं, एकं—

एक, अर्थात् मैं एक और प्रपञ्च अनेक; मैं एक और धर्म अनेक, मैं एक और पाप अनेक; मैं एक और सुख-दुःख अनेक। अनेकको छोड़ो। एक मैं, तुम्हारी प्रत्यागात्मा हूँ, परमात्मा हूँ, अद्वितीय हूँ, सबमें अन्वित हूँ और सबमें व्यक्तिगत हूँ—मुझे पकड़ो। 'एति अन्वेति इति एकः।' 'शरण' माने घर, अधिष्ठान होता है। इसीमें मन और बुद्धि रहते हैं और अपनी सत्तासे सबको सत्ता देते हैं, अपने ज्ञानसे सबको ज्ञान देते हैं और अपने आनन्दसे सबको आनन्दित करते हैं—इसके पास आजाओ। इसको जान लो। कहीं बाहर हो तो जाना पड़ता है और भीतर हो तो आना पड़ता है। और जो न बाहर हो, न भीतर हो, उसके लिए न जाना पड़ता है और न आना पड़ता है, उसको सिर्फ जानना पड़ता है। तो 'माम्' माने प्रत्यागात्मा रूपसे, एक माने अन्वित रूपसे और शरण माने अधिष्ठान रूपसे—हम परमात्माको जान लें। और व्रज माने हम परमात्माको प्राप्त करें, परमात्माका आश्रय, परमात्माकी शरण ग्रहण करें। 'और फिर—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'—अर्जुन, फिर मैं दूसरा नहीं रहूँगा, वैकुण्ठमें नहीं रहूँगा, मैं सृष्टिके आदिमें नहीं रहूँगा। सृष्टिके अन्तमें नहीं रहूँगा, मैं तुम्हारे साथ एक हो जाऊँगा और तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा।

यह तो आप जानते ही हैं कि सृष्टिका आदि और अन्त कल्पित ही होता है। पूर्वकी आदि कहाँ है? क्या जहाँ सूर्य उगता है? क्या उसके आगे पूर्व नहीं है? उसके आगे भी पूर्व है। उसके आगे भी है। यदि आप ढूँढने जायेंगे तो, मैं आपको लिखकर दे देता हूँ कि आपको अज्ञान और अन्धकारमें डूब जाना पड़ेगा और कुछ हाथ नहीं आयेगा। पश्चिमका अन्त कहाँ है? जहाँ सूर्यास्त होता है? उसके बाद ?. उसके बाद? उसके बाद? और यदि भूत और भविष्यका आदि-अन्त ढूँढने जायेंगे कि पहले-पहले यह

सृष्टि कब हुई, कैसे हुई, किसने बनायी, कहाँ हुई—तब भी अज्ञानान्धकारमें डूब जाओगे, असलमें, पूर्व शुरू वहाँसे होता है, जहाँ आपका 'मैं' है। आपके मैं-से सामनेकी ओर पूर्व है, और पीछेकी ओर पश्चिम है, दाहिनी ओर दक्षिण और बाँयो ओर उत्तर है। आपके मैं-से ऊपरकी ओर ऊपर और नीचेकी ओर नीचे है। दिशाओंका प्रारम्भ आपके 'मैं'से होता है। भूत-भविष्यका प्रारम्भ कबसे होता है ? जबसे काल प्रारम्भ हुआ। असलमें कालका भान कब होता है ? उस वर्त्तमानके भी वर्त्तमान आत्मासे भूत-भविष्यकी कल्पना होती है। तो मामेकं शरणं व्रजका अर्थ है कि आप दूर मत जाइये, आप देर मत कीजिये और आप दूसरेको मत ढूँढिये। आपका परमेश्वर आपमें ही है। गुरु नानकने कहा है—'थापा न जाये, कीता न होय।' उसका अध्यारोप नहीं किया जाता है, उसको स्थापित नहीं किया जाता है। उसमें प्राण प्रतिष्ठा नहीं की जाती है और 'कीता न होय'—वह बनानेसे बनता नहीं है। 'आप-ही-आप निरञ्जन सोय।'

'मामेकं शरणं व्रज'में जो माम् (पूर्वार्धमें) था वह उत्तरार्धमें अहं बन गया और फिर पाप-पुण्य दोनों अपने-आप झड़ गये। भगवान्‌को पाप-पुण्य छुड़ाने नहीं पड़ते, क्योंकि उनके नित्य शुद्ध-बुद्ध-असङ्ग, अद्वितीय, आत्म-तत्त्वमें न पाप लगता है और न ही पुण्य लगता है। अर्थात् जब अहंके रूपमें परमात्माकी अभिव्यक्ति होती है, वह प्रकट होता है, तब पाप-पुण्य अपने आप झड़ जाते हैं। और जब पाप-पुण्य झड़ गये, उनसे मुक्ति हो गयी, तब शोक किस बातका ?

भगवान् फिर कहते हैं—मेरे प्यारे भाई, वहीं आजाओ, जहाँसे शोक प्रारम्भ हुआ था ! 'शोक-संविग्नमानसः'—अर्जुन शोकसे ग्रस्त था। 'धर्मसम्मूढचेताः'—धर्मके सम्बन्धमें सम्मूढ था।

'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'—परमात्म-तत्त्वका ज्ञान नहीं था। भगवान्‌ने जान-बूझकर अर्जुनको अज्ञानी बना दिया। कह दिया उसने—'तुम थोड़ी देरके लिए अज्ञानीका अभिनय करो और मैं थोड़ी देरके लिए उपदेशकका अभिनय करता हूँ।'

असलमें, अर्जुन-श्रीकृष्ण नर-नारायण ही हैं। 'सत्त्वमेकं द्विधा स्थितं' शङ्कराचार्यजीने स्पष्ट रूपसे कहा—'अर्जुनं निमित्तीकृत्य'। अर्जुन कोई उपदेशका निमित्त नहीं था, उसको शोक-मोह भी नहीं था; परन्तु, भगवान्‌ने कहा—'अभिनेता बन जा'। अर्जुनने कहा—'अच्छा महाराज'। कहा—'रो'। 'अच्छा, रोते हैं'। कहा 'हँस'। 'अच्छा, हँसते हैं'। 'अब मैं उपदेश करता हूँ। 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे'। जिसका शोक नहीं करना चाहिए, तुम उसका शोक करते हो ? क्या भीष्म शोचनीय हैं ? क्या द्रोण शोचनीय हैं ? क्या कृपाचार्य शोचनीय हैं ? नहीं, वे शोचनीय नहीं हैं। जिनके मरने-जीने, मिलने-बिछुड़नेकी तुम फिकर कर रहे हो, उनमें कोई फिकर करने लायक नहीं है। तुम अपने दिल-दिमागको झूठ-मूठ बोझिल बना रहे हो।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

शोक दूर करनेके लिए ही प्रवचन प्रारम्भ हुआ, बीच-बीचमें भी 'न त्वं शोचितुमर्हसि' शोक करना सर्वथा अनुचित है—आया और अन्तमें श्रीकृष्णने कह दिया—'मा शुचः' शोक मत करो ! जो हो गया, उसके लिए शोक करते हो ? वह लौटकर नहीं आवेगा। जो हो रहा है, उसके लिए शोक करते हो ? वह तो हो ही रहा है। जो होनेवाला है, उसके लिए शोक करते हो ? क्या तुम्हें मालूम है कि वह क्या होगा ? एक प्रश्न है यह आप ध्यान दीजिये कि अगले क्षणमें आपके मनमें क्या इच्छा उत्पन्न होगी—क्या इस समय आपको मालूम है ? नहीं। क्या कोई ज्योतिषी यह बता सकता

है ? नहीं ? भूत बतानेवाले ज्योतिषी दुनियामें बहुत होते हैं। छः वर्षमें क्या होगा ? दस वर्षमें क्या होगा ? चार महीनेमें क्या होगा—यह बतानेवाला भी संयोगवश कोई ज्योतिषी मिल सकता है, हम इसको अस्वीकार नहीं करते हैं, परन्तु अगले क्षणमें आपके मनमें क्या इच्छा होगी, यह आप स्वयं नहीं जानते हैं, तो दूसरा यह क्या बतावेगा ? तब फिर ? जहाँ पूरा-का-पूरा अज्ञात है, वहाँ चिन्ता किसकी ? शोच किसका ? 'मा शुचः'। शोक मत करो।

वैसे, शोक भूतके लिए ही होता है। शोक होना माने भूत लगाना। पहले इतना धन था, अब नहीं है। पहले इतनी प्रतिष्ठा थी, अब नहीं है। पहले इतना आनन्द था, अब नहीं है। भूत लग गया–शोक लग गया। और भय ? भय भविष्यत्-वृत्ति है—आगे नुकसान न हो जाये; ऐसा न हो जाये, वैसा न हो जाये। इसे इस तरह समझिये—आदमी चल रहा होता है और पाँव पीछेकी ओर फिसल जाता है तो वह पीछेकी ओर गिर पड़ता है और आदमी चल रहा होता है और पाँव आगेकी ओर फिसल जाता है तब वह आगेकी ओर गिर पड़ता है और यदि वर्त्तमानके दलदलमें हो पाँव धँसा रक्खें तो ? तो फिर आगे नहीं बढ़ सकता। असलमें, न भूतमें फिसलिये, न भविष्यमें फिसलिये और न ही वर्त्तमानके दलदलमें धँसे रहिये। भूत, भविष्य, वर्त्तमान सबकी परवाह किये बिना, केवल परमात्माको देखते रहिये। आगे बढ़ रहे हैं, कि पीछे जा रहे हैं, कि दाहिने जा रहे हैं, कि बाएँ जा रहे हैं—सब ओर परमात्मा हैं।

उपनिषदोंमें सब तरहसे वर्णन है—मैं ही उत्तर हूँ, मैं ही दक्षिण हूँ, मैं ही पूरब हूँ और मैं ही पश्चिम हूँ। और जब सब कुछ परमात्मा है और जहाँ परमात्मा दूर नहीं है, जहाँ परमात्माके मिलनेमें देर नहीं है और जहाँ परमात्मा दूसरा नहीं है, वहाँ शोक करनेका क्या अर्थ है ? 'मा शुचः'। शोक मत करो।

भगवान् फिर अपनी पहली बातपर आगये—बँटवारा कर लें—आधा तुम छोड़ो, आधा मैं छुड़ा दूँगा उन्होंने कहा—'अर्जुन तुम पुण्यात्मा होनेका बोझ छोड़ो और मैं पापी होनेका बोझ छुड़ा दूँगा और जब पाप-पुण्य दोनोंसे मुक्त हो जाओगे, तब न नरक है, न स्वर्ग है, न दुःख है, न सुख है; न आना है, न जाना है; न मिलना है, न बिछुड़ना है। बस, परमानन्द ही परमानन्द है। एक महात्माके आश्रममें मैं गया था। वहाँ, आश्रमके दरवाजेपर एक श्लोक लिखा हुआ था—

सर्वा गीता मयाऽधीता यत्र प्राप्तो विनिश्चयः।
सर्वधर्मपरित्यागो सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

लगता है किसीने विनोदमें, मजाकमें यह श्लोक लिख दिया होगा।

आप सुख चाहते हैं, दुःख नहीं। पर, जबतक आप सुख चाहते रहेंगे, तबतक आपके पास दुःख आता रहेगा। लड़िये आप। कब तक लड़ेंगे ? अतः आओ, श्रीकृष्णको अपने हृदयमें बैठा लो। हैं ही आपके हृदयमें और पहलेसे ही हैं और आकाशका पर्दा फाड़कर हैं; दिशाओंकी सीमा तोड़कर हैं और काल—भूत, भविष्य, वर्त्तमानको मिटाकर हैं। आपके हृदयमें भगवान् हैं और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ अमङ्गलकी कोई शङ्का नहीं है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

योग माने उपाय, साधन। हम जो भी उपाय कर रहे हैं, साधन कर रहे हैं या कर्म कर रहे हैं या प्रयत्न कर रहे हैं—उसके प्रेरक, प्रवर्त्तक, निर्वाहक और फलदाता भगवान् हैं, योगेश्वर हैं। योग माने उपाय और ईश्वर माने स्वामी। प्रेरणा देनेवाले, निर्वाह करनेवाले, फल देनेवाले स्वामी। प्रेरणा भी वही देते हैं, साधनका

निर्वाह भी वही करते हैं और फल भी वही देते हैं। और—'यत्र पार्थो धनुर्धरः' जहाँ यह जीवात्मा ज्ञान-विज्ञानका धनुष लेकर खड़ा है।

यत्र पार्थो धनुर्धरः।

जहाँ जीवका उत्साहपूर्ण अभियान है और ईश्वरकी सहायता है वहाँ—'तत्र श्रीर्विजयोभूतिः' लक्ष्मीका निवास वहाँ है, विजय वहाँ है, वैभव वहाँ है और शाश्वत नीति वहाँ है। सञ्जयने कहा—यह मेरा दृढ़, ध्रुव निश्चय है कि जहाँ परमात्माकी प्रेरणा है, उनका निर्वाह है और उनका फलदातृत्व है और भक्त, जीवका उत्साह है–'यत्र पार्थो धनुर्धरः'—बस, वहाँ सम्पूर्ण मङ्गल, सम्पूर्ण सुख और सम्पूर्ण शान्तिका निवास है।

ॐ शान्ति शान्ति शान्तिः !

* सत्साहित्य पढ़िये *

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित

क्रम	पुस्तक	मूल्य
१.	माण्डूक्य-प्रवचन (आगम, वैतथ्य, अद्वैत प्रकरण)	२६.५०
२.	कठोपनिषद्-प्रवचन—१	९.००
३.	कठोपनिषद्-प्रवचन—२	१२.००
४.	ईशावास्य-प्रवचन	४.००
५.	सांख्ययोग (दूसरा अध्याय)	९.७५
६.	कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	६.००
७.	ध्यानयोग (छठाँ अध्याय)	६.००
८.	ज्ञान-विज्ञान-योग	६.००
९.	विभूतियोग (दसवाँ अध्याय)	५.२५
१०.	भक्तियोग (बारहवाँ अध्याय)	८.००
११.	पुरुषोत्तम योग (पन्द्रहवाँ अध्याय)	५.००
१२.	गीता-दर्शन—१ से ९ तक	४९.५०
१३.	नारद भक्ति-दर्शन	१५.००
१४.	भक्ति-सर्वस्व	१०.००
१५.	ब्रह्मसूत्र-प्रवचन—१ से ३	३०.००
१६.	वेणुगीत	३.००
१७.	गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	२.००
१८.	भागवत विचार-दोहन	३.००
१९.	वाल्मीकि रामायणामृत	२०.००
२०.	भागवतामृत	१५.००
२१.	योगः कर्मसु कौशलम्	३.००
२२.	भागवत-दर्शन (दो खण्डों में)	२००.००
२३.	गीतामें मानव-धर्म भ० स०	८.००
२४.	प्रार्थना षट्पदी (प्रवचन)	४.५०
२५.	कपिलोपदेश	३.७५
२६.	व्यवहार और परमार्थ	३.७५
२७.	मानव-जीवन भा०-धर्म	४.५०
२८.	विवेक कीजिये १ और २	१४.५०
२९.	अपरोक्षानुभूति	१२.००
३०.	साधना ब्रह्मानुभूति	१२.००
३१.	भक्ति एवं लीला	५.००
३२.	भक्तिदर्शनामृत	२०.००
३३.	भागवत-व्यञ्जन	२०.००

पाठकोंकी सुविधाके लिए ट्रस्ट की भिन्न-भिन्न सदस्यता-श्रेणियाँ हैं जिनके अन्तर्गत पूरा साहित्य भेंटस्वरूप एवं कमीशन पर दिया जाता है। कृपया अधिक जानकारीके लिए कार्यालयसे सम्पर्क कीजिये।

प्राप्ति स्थान

— सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट —

'विपुल' २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग, मालाबार हिल, बम्बई—६

फोन : ८१७९७६